~~13~~

65/4

8

[illegible]

ईर्ष्या नाम के मनोवेग को शुक्ल के क्रम से स्पष्ट कीजिए। ... ५०
भय नामक मनोवेग के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों को संक्षिप्त रूप में लिखिए। ५२
क्रोध की सामाजिक उपयोगिता का विवेचन करते हुए क्रोध और अमर्ष और चिड़चिड़ाहट के भेद को स्पष्ट कीजिए। ... ५५
कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी के क्या विचार हैं ? ... ५७
काव्य-विधान तथा सृष्टि-प्रसार का क्या सम्बन्ध है ? आचार्य शुक्ल प्रकृति को कविता में क्या स्थान देते हैं, संक्षेप में समझाइए। ६४
सौन्दर्य का चमत्कार के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचार व्यक्त करते हुए बतलाइये कि काव्य में वे उनका क्या स्थान मानते हैं। ६८
कविता में भाषा का क्या महत्त्व है और वह कहाँ तक कविता को उसके उद्देश्य में सहायता करती है। शुक्ल जी के मत का विवेचन कीजिए। ७२
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य में युगप्रवर्त्तक कहे जाते हैं, विवेचन कीजिये। ७७
आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु जी को किन कविता सम्बन्धी विशेषताओं के कारण साहित्य के नये युग का प्रवर्त्तक कहा है, अपने विचार इस सम्बन्ध में प्रस्तुत कीजिये। ८०
भारतेन्दु जी से पूर्व हिन्दी गद्य साहित्य की भाषा की क्या स्थिति थी ? संक्षेप में बताइये कि भारतेन्दु जी ने उसके सुधार के लिए क्या किया ? ८४
आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्ति की व्याख्या कीजिये। तुलसी की भक्ति सम्बन्धी शुक्ल जी की धारणाओं का विवेचन कीजिए। ... ८६
तुलसी की भक्ति सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये और यह बताइये कि काव्य पर शुक्ल जी उसका क्या प्रभाव समझते हैं। ९०
मानस की धार्मिक पृष्ठभूमि व्यापक और पूर्ण है। इस कथन की पुष्टि कीजिये। ९०

२७. तुलसी के मानस की भिन्न-भिन्न धार्मिक भावनाओं से आचार्य शुक्ल प्रभावित हैं। स्पष्ट कीजिए। ... ६

२८. काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था के सम्बन्ध में शुक्ल जी के अपने तथा पाश्चात्य मत की स्पष्ट समय में व्याख्या कीजिये। १०

२९. काव्य में आनन्द की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष से क्या समझते हैं काव्य रचना में इसका महत्त्व स्थित कीजिये। ... १०

३०. साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है ? शुक्ल ने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो पूर्वी तथ पश्चिमी मत दिये हैं उन्हें प्रस्तुत कीजिये। १०

३१. साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों का विश्लेषण करते हुए बताइये कि वह भारतीय आचार्यों से किस सीमा तक साम्य रखते हैं। ११

३२. व्यक्ति-वैचित्र्यवाद क्या है ? शुक्ल जी के विचारों को इस सम्बन्ध में व्यक्त कीजिए। १२

३३. शुक्ल ने रसानुभूति के जो विभिन्न रूप तथा व्यापार बताए हैं उन्हें स्पष्ट रूप से समझाइए। १२

३४. प्रत्यक्ष रूप-विधान से क्या तात्पर्य है ? इसमें रसास्वाद किस प्रकार होता है ? स्पष्ट कीजिए। १४

३५. कल्पना के द्वारा आप क्या समझते हैं ? कल्पना का अर्थ स्पष्ट करते हुए काव्य में उसका महत्त्व बताइये। ... १३

३६. कठिन शब्दों के अर्थ तथा महत्वपूर्ण स्थलों का भावार्थ। ... ... १५१—२०८ तक

लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६

प्रश्न १—हिन्दी साहित्य में निबन्ध के विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का आविर्भाव अधिक प्राचीन नहीं है। गद्य की अन्य विधाओं की भाँति निन्बध भी १९वीं शताब्दी की प्रमुख देन है। निबन्ध का अर्थ है प्रयास, जो कि अंग्रेजी के एस्से (Essay) का रूपान्तर है। वस्तुतः निबन्ध में ही भाषा की पूर्व-शक्ति का विकास सम्भव हो सकता है। निबन्ध में लेखक यही प्रयास करता है कि वह कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक विचार भर सके। अन्यत्र गद्य माध्यम होता है, पर निबन्ध में गद्य साध्य बन जाता है। वह स्वतःपूर्ण विद्या है तथा इसीमें ही गद्य-शैली का पूर्ण एवं स्वतन्त्र विकास होता है। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उचित ही कहा है, "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"

निबन्ध साहित्य के विकास को सुविधापूर्वक जानने के लिए हम उसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. भारतेन्दु युग,
२. द्विवेदी युग,
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल युग,
४. वर्तमान युग।

अब हम इन चारों युगों को अलग-अलग लेकर उनके प्रमुख निबन्धकारों का विवेचन करेंगे।

१. भारतेन्दु युग :

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय हिन्दी-साहित्य में बड़ी अव्यवस्थिता थी। आरम्भ से ही भारतेन्दुजी के हृदय में हिन्दी के लिए अपूर्व प्रेम था। भारतेन्दु पहले व्यक्ति थे जिन्होंने साहित्य के सभी अंगों पर दृष्टि डाली। इनसे पूर्व हिन्दी-साहित्य में न तो कोई नाटक परम्परा थी, न उपन्यासों की और न ही निबन्ध का आविर्भाव हुआ था। भारतेन्दु जी ने सभी का सम्यक

विकास करने का प्रयत्न किया। परन्तु मूलरूप से उनकी दृष्टि नाटकों की ओर आकर्षित हुई, फलतः उपन्यास तथा निबन्ध गद्य की मुख्य विधाओं को उनका आश्रय प्राप्त न हो सका। तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि भारतेन्दुजी ने कोई निबन्ध न लिखा हो। उन्होंने लगभग ८० पृष्ठों का विस्तृत आलोचनात्मक, विचारपूर्ण तथा गम्भीर 'नाटक' नामक लेख लिखा। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई लेखकों को निबन्ध लिखने की प्रेरणा देकर उनसे निबन्ध लिखवाये।

उस समय उनके सम्मुख दो विद्वानों की मुख्य विचारधारायें थीं। एक तो सितारे-हिन्द की विचारधारा जो केवल नागरी लिपि का प्रयोग करके शब्द अरबी-फारसी के रखते थे तथा दूसरे संस्कृत के प्रेमी राजा लक्ष्मणसिंह की। परन्तु भारतेन्दुजी ने मध्यम मार्ग को ग्रहण कर सरल भाषा में अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने का प्रयास किया। मुहावरों तथा कहावतों के सुन्दर प्रयोग से भाषा और भी सशक्त हो गई है। उन्होंने लगभग सभी प्रकार के निबन्धों की रचना की। साहित्यिक निबन्धों में मुख्य रूप से 'सूरदास', 'जयदेव', 'नाटक', 'कबीर,' सामाजिक निबन्धों में 'होली', 'त्योहार', 'भूकम्प,' धार्मिक निबन्धों में 'ईश्वर का वर्तमान होना', 'भक्ति ज्ञानादि से क्यों बड़ी है' 'भगवत् स्तुति,' आदि तथा राजनैतिक निबन्धों में 'इंगलैंड और भारतवर्ष', 'भारतवर्ष के सुधार के क्या उपाय हैं' मुख्य हैं। उनके समकालीन मुख्य निबन्धकार हैं - पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघवन' तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास। इस युग में सामयिक निबन्धों के साथ-साथ साहित्यिक निबन्धों की भी रचना हुई।

पं० बालकृष्ण भट्ट- हिन्दी-साहित्य में साहित्यिक-निबन्ध लिखने का सर्वप्रथम प्रयास भट्ट जी ने ही किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने भी सामयिक, सामाजिक तथा शिक्षा-प्रधान निबन्धों की रचना की। इनके निबन्धों में विविध प्रकार की शैलियों के दर्शन होते हैं। 'प्रीति,' 'दीर्घायु,' 'प्रेम के बाग का सैलानी,' 'मन और नेत्र,' 'पौत्र' 'बाल्यावस्था,' 'माँगी रोटी मिला पत्थर,' 'पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं, संसार कभी एकरस नहीं रहता आदि आपके प्रमुख निबन्ध हैं, जिनके विषयानुसार इनकी शैली भावात्मक, उत्प्रेक्षाप्रधान, संस्कृत-पदावली प्रधान, व्यंग्यात्मक तथा कल्पनात्मक होती गई है। भाषा भी

विषयानुकूल, अलंकृत, सरल तथा गम्भीर होती गई है। मुहावरों तथा कहावतों का भी सुन्दर प्रयोग किया है। हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का प्रयोग इनकी विशेषता है।

इस प्रकार एक ओर सरल तथा दूसरी ओर गम्भीर निबन्ध लिखकर भट्ट जी ने निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि की है। उस समय के महत्त्वपूर्ण पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' में अपने निबन्धों को प्रकाशित कर भट्ट जी ने हिन्दी का विषय-विस्तार तथा जनता को निबन्धों की ओर आकृष्ट करने का सुप्रयास किया है। आपके निबन्ध भारतेन्दुजी के निबन्धों से कहीं उत्कृष्ट हैं।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—श्री मिश्र जी भारतेन्दु युग के दूसरे मुख्य निबन्धकार हैं। आपको अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू की शिक्षा के अतिरिक्त ज्योतिष विद्या का अध्ययन करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। हिन्दी साहित्य में मिश्र जी के निबन्धों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। हिन्दी की 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका के सम्पादक रूप में इन्होंने अनेक साहित्यिक, सामाजिक एवं विविध विषयों पर निबन्ध-रचना की। 'देशोन्नति', 'भलमनसी', 'हमारी आवश्यकता नारी', 'खुशामद', 'अन्तिम भाषण', आदि इनके विचारपूर्ण निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। साहित्यिक निबन्धों में 'बात', 'मनोयोग', 'भौं', 'वृद्ध', 'तिल', आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त 'बेगार', 'होली है', 'बन्दरों की सभा', 'मुहर्रम', आदि सामयिक तथा अन्य विविध विषयों से सम्बन्धित प्रमुख निबन्ध हैं।

मिश्र जी की शैली मुख्य रूप से भावात्मक है। भाषा भी यथावसर भावानुकूल परिवर्तित होती जाती है। कई स्थानों पर हास्य विनोदपूर्ण उक्तियाँ तथा सुन्दर व्यंग्य निबन्ध को आकर्षक बना देते हैं। मुहावरों का प्रयोग इनका अतीव सुन्दर है। कहीं-कहीं तो शीर्षक ही मुहावरे हैं। जैसे 'टेढ़ जानि शंका सब काहू', 'जाने न बूझै', कटौता लेके जूझै', 'मरे को मारें शाह मदार' आदि। कई अवसरों पर भाषा में श्लेष, यमक और अनुप्रास की झड़ी-सी लग जाती है। पर कई स्थानों पर भाषा में पूर्वीपन भी परिलक्षित होता है।

इस युग में पं० माधवप्रसाद मिश्र, पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि लेखकों ने हिन्दी निबन्ध-साहित्य के विस्तार तथा उसका रूप स्थिर करने की जो चेष्टाएँ की हैं वे सराहनीय हैं। यद्यपि

इस युग की भाषा सदोष रही, वाक्य विन्यास भी शिथिल रहा तथा क्रिया-पदों में भी एकरूपता नहीं थी तथापि इस युग ने जो निबन्ध के बीजारोपण का कार्य किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

२. द्विवेदी युग

यह युग परिमार्जन तथा परिष्कार के लिए प्रसिद्ध है। निबन्ध साहित्य का आविर्भाव तो हो ही गया था। उसका विस्तार भी पर्याप्त मात्रा में हो गया था—परन्तु भाषा में एकरूपता नहीं थी। उसमें अव्यावहारिकता थी। भाषा प्रायः अशुद्ध थी। एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं—'किये', 'कियौ', 'किया, आदि।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने भाषा-सम्बन्धी सभी त्रुटियों पर दृष्टि डाली। 'सरस्वती' नामक तत्कालीन प्रमुख हिन्दी-पत्रिका का सम्पादन-कार्य का भार अपने ऊपर लेते ही उन्होंने भाषा में एकरूपता लाने का कार्य आरम्भ कर दिया। अपनी पत्रिका में नये-नये लेखकों के लेखों को स्थान देकर उनको प्रोत्साहन दिया। व्याकरण-सम्बन्धी भूलों को भी सुधारा। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई नवीन विषयों की ओर भी लेखकों को प्रेरित किया। द्विवेदी जी के निबन्धों के अनेक संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। लेकिन 'विचार रत्नावली', 'विचार विमर्श', 'लेखांजलि', 'साहित्य संदर्भ', 'साहित्य-सीकर', 'भाषा की अनिस्थरता' तथा 'आलोचनाञ्जलि' आदि उनके निबन्धों के प्रमुख संग्रह हैं।

द्विवेदी जी के निबन्ध के विषय अधिकांशतः साहित्यिक, गवेषणात्मक तथ विचारात्मक हैं। विषयानुसार आपकी शैली भी परिवर्तित होती गई है। कतिपय स्थलों पर तो उनकी प्रवृत्ति व्याख्यात्मक हो गई है। एक ही बात को समझाने के लिए बार-बार कुछ शब्दों के ही हेर-फेर से पांच पांच, छः-छः बार कहा गया है। उनका यह मन था कि कठिन से कठिन विषय को भी ऐसे सरल ढंग से उपस्थित किया जाए कि साधारण से साधारण पाठक भी उसे अधिक से अधिक समझ सके। इसी में वह लेखक की सफलता स्वीकार करते थे। द्विवेदी जी की भाषा प्रौढ़ है, परन्तु विषयानुकूल उसे सरल तथा व्यावहारिक बनाना उनकी विशेषता है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करते हैं तथा शब्द भी प्रचलित हैं। उन्होंने आलोचनात्मक निबन्धों द्वारा मार्ग प्रदर्शित किया है। कई स्थलों पर उन्होंने सुन्दर व्यंग्य भी किए

हैं। समयानुकूल उनकी भाषा भी बड़ी सशक्त प्रतीत होती है—"साहित्य में वह शक्ति छिपी रहती है जो तोप, तलवार और बम के गोलों में नहीं पाई जाती। पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊंचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने।" इस प्रकार शब्दों का दोहराना भाषा में शक्ति तथा गम्भीरता का संचार कर देता है। उनकी भाषा में सभी प्रकार के शब्दों को प्रश्रय मिला है। कहीं-कहीं संस्कृत, तत्सम शब्दों की प्रधानता दिखाई देती है। मुहावरे तथा कहावतों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार उन्होंने भाषा को व्यवस्थित कर शब्दों की व्यंजना-शक्ति के प्रसार का सफल प्रयत्न किया है, यही कारण है कि उन्हें निबन्ध का ही नहीं, अपितु आधुनिक गद्य की नींव को स्थिर करने वाला माना जाता है।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त गुप्तजी का नाम द्विवेदी युग के प्रमुख निबन्धकारों में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। आप बड़े ही विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे। यही कारण है कि इनके निबन्धों की शैली अधिकांशतः हास्य या विनोदपूर्ण तथा व्यंग्यात्मक है। पहले आप उर्दू के दो पत्रों के सम्पादक रहे। तदुपरान्त आप 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक नियुक्त किये गये। इस काल में इन्होंने कई विषयों पर सुन्दर निबन्धों की रचना की। इन्हीं निबन्धों का संग्रह 'गुप्त निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' नाम से एक अन्य संग्रह भी छप चुका है। गुप्तजी की भाषा सरल, चटीली, सजीव, विनोदपूर्ण, व्यावहारिक, कहावतों तथा मुहावरों से परिपूर्ण तथा सभी प्रकार के शब्दों से युक्त होती है। चाहे कितना ही गम्भीर विषय क्यों न हो गुप्त जी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ाये बिना नहीं रहती। इनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं तथा भाव सर्वथा स्पष्ट होते हैं। पाठक की रुचि बनी रहती है। वह ऊबता नहीं।

इसी युग के अन्य भावात्मक निबन्धकारों में अध्यापक पूर्णसिंह का नाम उल्लेखनीय है। वे बड़े भावुक प्राणी थे। इन्होंने बहुत थोड़े निबन्धों की रचना की जो कि 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए। इनके लेखों में भाषा की एक नवीन गति-विधि परिलक्षित होती है। विचारों और भावों का अनूठे ढंग से मिश्रण एक नई शैली का द्योतक है। 'मजदूरी और प्रेम,' 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता' तथा 'नयनों की गंगा', चार निबन्धों

द्वारा उनकी भावात्मक शैली की प्रधानता का ज्ञान प्राप्त होता है। कई स्थलों पर वाक्यों में चमत्कार तथा रहस्यात्मकता दृष्टिगत होती है। कतिपय प्रसंगों में भावों के प्रकाशनार्थ सूत्र शैली भी अपनाई गई है जैसे—"प्रेम की भाषा शब्द रहित है", "आचरण की मौन भाषा ईश्वरीय है" आदि।

भाषा इनकी चलती हुई हिन्दुस्तानी भाषा कही जा सकती है। उर्दू के बहुत-से शब्दों का प्रयोग इनमें मिलता है। संस्कृत के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। यद्यपि इनके निबन्ध भाव-प्रधान हैं तथापि भाषा शुद्ध, प्रवाहपूर्ण तथा व्यावहारिक है।

इनके अतिरिक्त इस युग के कतिपय अन्य निबन्ध लेखक हैं श्री वियोगी हरि, मिश्रबन्धु, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' तथा गोविन्द नारायण मिश्र। इन महानुभावों ने विविध विषयों पर निबन्ध लिखकर निबन्ध साहित्य में अभिवृद्धि की है।

३. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा उनका युग

निबन्ध साहित्य का पर्याप्त मात्रा में विस्तार हो चुका था। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी सामयिक यिषयों पर निबन्ध लिखे जा चुके थे। शुक्ल युग की प्रमुख विशेषता थी निबन्धों की प्रौढ़ता। कई प्रकार के नवीन विषयों पर निबन्ध लिखे गये। इतना ही नहीं, प्रत्युत् इस युग में विषयों का भी निबन्ध में आरोप हो गया। हिन्दी इतनी शक्तिशाली भाषा बन गई कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अभिव्यंजना में सफल होने लगी।

निबन्ध साहित्य के इस प्रौढ़ युग के प्रमुख निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं। उनके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचन अलले पृष्ठों में किया जायगा। इस युग के अन्य उल्लेखनीय लेखक हैं—डाक्टर श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय, श्री जयशंकर प्रसाद तथा मुंशी प्रेमचन्द जी। इन निबन्धकारों का संक्षिप्त रूप में परिचय ही पर्याप्त होगा।

डा० श्यामसुन्दर दास—निबन्ध साहित्य ही नहीं अपितु हिन्दी का उन्नयन करने वाले महानुभावों में भी बाबू साहब का प्रमुख स्थान है। भाषा के परिमार्जन में द्विवेदीजी से भी इनको अधिक श्रेय प्राप्त हुआ है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना दास जी के ही सतत प्रयत्नों का परिणाम है।

बाबू जी के निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक हैं। साहित्य सम्बन्धी कठिन विषयों के प्रतिपादन में भाषा को सरल बनाने की चेष्टा इन्होंने की है। 'भारतीय साहित्य की विशेषताएं', 'समाज और साहित्य' तथा 'कर्त्तव्य और सत्यता' इनके साहित्य संबंधी निबंध हैं। उनकी शैली प्रायः गम्भीर है—क्योंकि विषयानुसार शैली का होना स्वाभाविक ही होता है। बाबू जी की यह विशेषता है कि वह विदेशी शब्दों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप बनाकर उनका प्रयोग करते हैं। वस्तुतः बाबू जी का प्रथम रूप आलोचक का है तथा अन्य कोई भी रूप बाद में आता है।

बाबू गुलाब राय—बाबू जी ने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार के कतिपय निबंध लिखे हैं। जिस स्थान पर बाबू जी ने अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं वहाँ संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों का प्रभाव लक्षित होता है। परन्तु भावात्मक निबंधों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनकी शैली सरल तथा व्यवहारात्मक है परन्तु जहां भावों के साथ-साथ विचारो का स्पष्टीकरण है वहाँ शैली भी भावात्मक है। ऐसे स्थलों में वाक्य लम्बे तथा संस्कृत के तत्सम शब्दों का खुले दिल से प्रयोग है। 'फिर निराशा क्यों', 'समाज और कर्त्तव्य पालन', 'कर्त्तव्य संबंधी रोग', 'अमूर्त निदान और चिकित्सा' और 'कुरूपता' इनके कुछ निबंध हैं। मूलतः इनका क्षेत्र भी आलोचना ही है। 'मेरी असफलताएँ' तथा 'मेरे निबंध-जीवन और जगत्' इनके निबंधों के दो संग्रह हैं।

इन विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल युग में श्री जयशंकर प्रसाद तथा मुंशी प्रेमचन्द जी का नाम आता है। परन्तु प्रसाद जी मूलतः कवि तथा सफल नाटककार थे। इन्होंने अपने कविता संबंधी विचारों को स्पष्ट करने के लिए कुछ निबंधों की रचना की। 'चित्राधार' तथा 'काव्य और कला' इनके निबंध संग्रह हैं। प्रसाद स्वभाव से ही गम्भीर व्यक्ति थे इसी कारण इनके निबंधों में विचारों का गुम्फन रहता है। शैली इनकी समान है तथा वाक्य लम्बे हैं। संस्कृत का प्रभाव इन पर पूर्ण रूप से लक्षित होता है।

प्रेमचन्द जी का क्षेत्र मूलतः कहानी तथा उपन्यास का क्षेत्र है। तथापि उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण निबंधों का भी सृजन किया है। 'हंस' में इनके निबंध प्रायः प्रकाशित होते थे। 'कुछ विचार' नाम से इनके निबंधों के

संग्रह की प्रथम पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें 'उपन्यास', 'उपन्यास का विषय', 'साहित्य का उद्देश्य', 'जीवन में साहित्य का स्थान', 'उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी', 'कौमी भाषा के विषय में विचार' आदि निबंध संगृहीत हैं। दूसरा संग्रह 'कलम, तलवार और त्याग' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें २२ लेख हैं। मुंशी जी की भाषा-शैली व्यावहारिक, सहज तथा आकर्षक है। सरलता तथा बोधगम्यता इनके निबंधों के मुख्य गुण हैं।

४. वर्तमान युग

निबंध साहित्य की दृष्टि से वर्तमान युग बड़ा समृद्धिशाली है। इस युग में निबंध क्षेत्र का जहाँ विस्तार हुआ, उसके साथ ही साथ उसमें कई नवीन प्रयोग भी हुए। इस युग के निबंध मौलिक तो हैं ही, साथ में अनूदित निबंध भी हमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। इस युग में निबंध रचना का कार्य बड़ी तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। आचार्य शुक्ल युग की शैली बड़ी गम्भीर तथा भाषा अधिकांशतः तत्सम शब्दों से भरपूर थी—परन्तु वर्तमान युग में भाषा की दुरूहता हटाकर उसे और भी ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है। कठिन से कठिन अमूर्त विषय को भी सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रायः सभी विषयों पर निबंध रचना हुई है।

इस युग के प्रमुख निबंधकारों में डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० नगेन्द्र, रामचन्द्र वर्मा, प्रभाकर माचवे, राहुल सांकृत्यायन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कतिपय मुख्य निबंधकारों पर ही हम विचार करेंगे।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी जी ने भावात्मक तथा गवेषणात्मक दोनों प्रकार के निबंधों की रचना की है। इन्होंने सूक्ष्म विषयों पर भी निबंध लिखे तथा उनका प्रतिपादन भी बड़ी सरलतापूर्वक सफलता के साथ किया है। दुर्बोध तथा गहन को सरल बनाना इनकी निजी विशेषता है। 'विचार और वितर्क' तथा 'अशोक के फूल' इनके दो निबंध संग्रह हैं।

इनकी शैली विवेचना-प्रधान तथा गवेषणात्मक है। वाक्य छोटे हैं परन्तु भाषा संस्कृत-प्रधान है। विचारों के प्रवाह में तीव्रता है। आवश्यकतानुसार उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों को भी ग्रहण करने की प्रवृत्ति इनमें मिलती

है। विषय के प्रतिपादन में लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग इनमें मिलता है। अध्ययन में गम्भीरता के कारण इनके निबन्धों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी पंडित जी ने भी विचारात्मक तथा भावात्मक निबन्धों की रचना की। आप न अंग्रेजी विचारधारा से प्रभावित हैं, न संस्कृत से, अपितु इनके निबन्धों की पृष्ठभूमि स्वनिर्मित है। भाषा और शैली विषयानुसार है। 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'हमारे साहित्य निर्माता', 'कवि और काव्य' तथा 'जीवन यात्रा' इनके निबन्ध-संग्रह हैं

इनकी भाषा भावानुकूल है। विचारात्मक निबन्धों में संस्कृत के शब्दों का प्राधान्य है। भावात्मक निबन्धों में उर्दू अंग्रेजी, तथा संस्कृत के शब्दों का प्रयोग हुआ है। शैली इनकी समास प्रधान है, तथापि व्यावहारिकता की ओर इनका ध्यान बराबर रहा है। कतिपय स्थलों पर विनोद की भी प्रधानता दृष्टिगत होती है।

इनके अतिरिक्त पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, प्रभाकर माचवे आदि ने भी यथावसर सुन्दर तथा आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की है। ये महानुभाव आलोचक पहले हैं तथा और कुछ बाद में। तथापि निबन्ध साहित्य में इनकी सेवायें सराहनीय हैं।। श्रीमती महादेवी वर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, राहुल सांकृत्यायन तथा रामचन्द्र वर्मा आदि ने भी सुन्दर निबन्धों की रचना कर निबन्ध साहित्य को समृद्ध बनाने का सुप्रयास किया है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अल्पकाल में कितनी तीव्र गति से निबन्ध-साहित्य उन्नतावस्था को प्राप्त हुआ है। प्रायः सभी विषयों पर निबन्ध प्राप्त होते हैं। भावात्मक, विचारात्मक गवेषणात्मक, विवरणात्मक सभी प्रकार के निबन्धों की रचना हो रही है। शैली भी चार प्रकार की —व्यास-शैली, समास-शैली धारा-शैली तथा विक्षेप-शैली—निबन्ध के क्षेत्र में मिलती है। तात्पर्य यह कि निबन्ध साहित्य सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दी निबन्धों का भविष्य उज्ज्वल तथा सन्तोषजनक प्रतीत होता है।

प्रश्न २—निबन्ध साहित्य में शुक्ल जी का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—शुक्ल जी से पूर्व निबन्ध क्षेत्र में लगभग सभी विषयों पर लिखा जा चुका था। परन्तु जिस प्रकार के निबन्धों की रचना शुक्ल जी ने की उस प्रकार के निबन्धों की सत्ता किसी भी पूर्ववर्ती निबन्धकार में नहीं मिलती

यदि भारतेन्दु जी गद्य के जनक हैं, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी परिष्कारक, तो आचार्य शुक्ल को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने हिन्दी गद्य को शिखर पर पहुंचाया। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल जी का निबन्ध साहित्य में स्थान सर्वोपरि है।

शुक्ल जी ने भावों और मनोविकारों पर निबन्ध रचना करके हिन्दी साहित्य को एक अभिनव वस्तु प्रदान की है। निस्सन्देह उनसे पूर्व इस प्रकार के कतिपय निबन्ध रचे गये। जैसे बालकृष्ण भट्ट जी का 'आत्म-निर्भरता' प्रतापनारायण मिश्र जी का 'मनोयोग' तथा माधवप्रसाद मिश्र जी का 'धृति और क्षमा'। परन्तु इन लोगों का विषय को प्रतिपादित करने का ढंग ही दूसरा था। ये लोग भावों पर दृष्टि डाल कर ही रह जाते थे— उनकी गहराई में नहीं जाते थे। शुक्ल जी ने भावों तथा मनोविकारों के व्यावहारिक तथा सामाजिक दोनों पक्षों पर समान महत्त्व देकर उनकी समाज पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसका भी सूक्ष्म विवेचन करके मनोविज्ञान की एक नई मान्यता की साहित्य में स्थापना की। इन भावों का ऐसा सूक्ष्म तथा मनोहारी विश्लेष इनसे पूर्व किसी भी विद्वान ने नहीं किया। यह शुक्ल जी की निजी विशेषता है जिसके कारण वह पूर्ववर्ती निबन्धकारों से बहुत आगे बढ़ गये हैं।

शुक्ल जी से पूर्व कुछ आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे गये। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने कवि और कविता पर समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखा, पर इस क्षेत्र में शुक्ल जी की दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उनका गूढ़ चिन्तन तथा विषय को प्रतिपादित करने की शैली इस प्रकार के निबन्धों में भी अग्रणी रहने में समर्थ हुई है। आचार्य वर्तमान युग के प्रमुख शैलीकार थे। शुक्ल जी ने विषय तथा शैली का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य किया है, वैसा किसी अन्य लेखक में प्राप्त नहीं होता। आपके निबन्ध 'चिन्तामणि' के दो भागों में संगृहीत हैं॥ प्रथम भाग में कुल मिलाकर १७ निबन्ध हैं। इनमें अधिकांश भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गये हैं तथा कतिपय निबन्ध काव्य-शास्त्र या आलोचना पर लिखे गये हैं। द्वितीय भाग में केवल तीन लम्बे निबन्ध हैं— 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद,' जो कि समीक्षात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी निबन्धों की विशेषता यही है कि प्रत्येक निबन्ध शैली के गुणों से विभूषित

है। इनकी शब्दावली प्रधानतः संस्कृत-गर्भित है परन्तु उसमें भाषा की मनोरंजकता है तथा भाषा प्रवाहमयी है।

शुक्ल जी ने ऐसे निबन्ध तथा आलोचना-साहित्य का सृजन किया, जिस में मौलिकता थी तथा जिसमें तत्त्व की प्रधानता थी। साहित्य में गूढ़ चिन्तन तथा सूक्ष्म विश्लेषण का आरम्भ शुक्ल जी ने ही किया। प० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि की गणना आज भी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकारों में की जाती है किन्तु शुक्ल जी का महत्त्व इनसे भी अधिक है कारण कि इनके द्वारा निबन्धों को प्रौढ़ता मिली। इन्होंने निबन्ध तथा आलोचना के क्षेत्र में कतिपय नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की तथा विषयों के प्रतिपादन में नवीन दृष्टि को अपनाया। इसी कारण परवर्ती निबन्धकारों में भी उनको विशेष महत्त्व दिया जाता है तथा वे सर्वोत्कृष्ट निबन्धकार सिद्ध होते हैं।

शुक्ल जी उसी निबन्ध को श्रेष्ठ निबन्ध मानते हैं जिसमें अभिनव विचारों की उद्भावना की गई हो। इसलिए उनकी एक पंक्ति भी ऐसी लिखी हुई नहीं प्राप्त होती जिसमें किसी मौलिक विचार की उद्भावना न की गई हो। उनके लिखने का ध्येय लिखने-मात्र के लिये नहीं था, अपितु वही ऐसे साहित्यकार थे, जो कि जीवन की अमूल्य निधि को दूसरों पर न्यौछावर करने वाले होते हैं। जीवन से जो कुछ उन्होंने प्राप्त किया साहित्य रूप में दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास किया। अतः उसमें जो कुछ भी हमें प्राप्त हुआ वह सर्वथा अलभ्य था। उनका एक-एक वाक्य साहित्यकारों के लिये ब्रह्मवाक्य बन गया। यदि शुक्ल जी ने जायसी पर न लिखा होता तो सम्भवतः जायसी को आज कोई भी न जान पाता। वस्तुतः ऐसा मौलिक लेखक हिन्दी साहित्य को आज तक न प्राप्त हो सका।

शुक्ल जी ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए सूत्र-शैली तथा व्यास-शैली का प्रयोग किया है। किसी विचार को वह सूत्र रूप में कहकर पुनः उसकी व्याख्या करते हैं। स्पष्टीकरण के लिए वह विषय का विभाजन कर लेते हैं और क्रमानुसार उसे स्पष्ट करते जाते हैं। कई स्थलों पर शुक्ल जी ने समास-शैली तथा व्यास-शैली का एकसाथ प्रयोग किया है। जैसे 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध में पहले वह सूत्रात्मक शैली में कहते हैं "प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार" और पुनः इसकी व्याख्या करते हुए व्यास

शैली का प्रयोग करते हैं। 'लोभ और प्रीति' में लोभ तथा प्रेम विषय में अपने विचारों को सूत्र रूप में इस प्रकार कहते हैं—"लोभ वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम कहते हैं।" तत्पश्चात् विस्तारपूर्वक इसकी व्याख्या करते हैं। वह केवल 'सु' या 'कु' की चर्चा करके ही सन्तुष्ट नहीं होते अपितु विषय की तात्त्विक विवेचना करते हैं। इस प्रकार ऐसा कहना समीचीन ही है कि शुक्ल जी आज के सर्वोत्कृष्ट निवन्धकार हैं। आचार्य द्विवेदी तथा बाबू गुलावराय जी ने शुक्ल जी के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है। आचार्य द्विवेदी जी का कथन है, "शुक्ल जी प्रभावित करते हैं तथा लेखक उनसे डरता है, पण्डित सिर हिलाता है।" बाबू जी के अनुसार "यह निर्विवाद है कि गद्य साहित्य की और विशेष कर निवन्ध साहित्य की प्रतिष्ठा वढ़ाने में शुक्ल जी अद्वितीय हैं। इस नाते हम इनको युग-निर्माता भी कहें तो भी कुछ अनुचित न होगा।"

अतः इस प्रकार के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित रामचन्द्र जी शुक्ल का स्थान निवन्ध-साहित्य में सर्वोपरि है। इनसे पूर्व निबन्ध-साहित्य में तीन महानुभावों का नाम उल्लेखनीय है—पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप नारायण मिश्र और पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी। परन्तु तुलना की दृष्टि ये निबन्धकार भी शुक्ल जी के सम्मुख नहीं ठहर पाते। आचार्य ने जहाँ नवीन उद्भावनायें की हैं वहाँ विषय के प्रतिपादन में भी नई दृष्टि को अपना कर निवन्ध-साहित्य को शिखर पर पहुँचाने का प्रयास किया है। अमूर्तभावों को भी अभिव्यक्ति प्रदान कर हिन्दी साहित्य में एक अभिनव विचार को जन्म देकर हिन्दी-साहित्य के गौरव को बढ़ाया है। निस्सन्देह वे उच्चकोटि के निवन्धकार हैं।

प्रश्न ३ शुक्ल जी की शैली की कौन-कौन सी-विशेषतायें हैं ?

उत्तर—मनुष्य तथा शैली में घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक फ्रेंच विद्वान् के अनुसार शैली स्वयं व्यक्ति है (Style is the man himself)। भिन्न भिन्न विषयों के अनुसार शैली भी परिवर्तित हो जाती है और यदि विषय गम्भीर है तो शैली में भी गम्भीरता आ जाती है और यदि विषय विनोद या हास्य-प्रधान है तो शैली में भी हल्कापन आ जाता है। इस प्रकार विषय तथा शैली अन्योन्याश्रित हैं। इसके अतिरिक्त कलाकार की शैली में अपने व्यक्तित्व की छाप अनिवार्य रूप से रहती है।

अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना 'चिन्तामणि' के दोनों भागों में शुक्ल जी ने तीन प्रकार के निबन्धों की रचना की—(१) भाव तथा मनोविकार सम्बन्धी भावात्मक निबन्ध । जैसे 'चिन्तामणि' प्रथम भाग के 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा और गलानि', 'लोभ और प्रीति', 'ईर्ष्या, भय, क्रोध' आदि पहले रस निबन्ध । (२) सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्ध जैसे—'कविता क्या है', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', तथा 'रसात्मक बोध के विभिन्न रूप' आदि । (३) व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध जैसे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' तथा 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' । शुक्ल जी ने इन तीनों वर्गों में भिन्न-भिन्न शैलियों को अपनाया है । इन विविध प्रकार के निबन्धों को जिन शैलियों में लिखा गया है उन पर हम दृष्टिपात करते हैं ।

१. भाव और विकार सम्बन्धी निबन्ध

अमूर्त विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करना शुक्ल जी की निजी विशेषता है । मनोभावों पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने वाले निबन्ध उनके व्यक्तित्व की मौलिकता तथा मनोविज्ञान के गहन चिन्तन के परिचायक हैं । इन निबन्धों को शुक्ल जी ने निगमन (Inductive Style) में लिखा है । निगमन शैली में विचारों को पहले सूत्र रूप में कहा है । पुनः उन व्यक्त विचारों को उदाहरण तथा तर्कों के द्वारा समझाया जाता है । इसी को समास शैली भी कहते हैं । बहुत बड़े भाव को अति संक्षिप्त रूप में कहा जाता है । जैसे 'उत्साह' नामक निबन्ध में उत्साह की परिभाषा अति संक्षिप्त रूप में उपस्थित करते हुए कहते हैं, "साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है ।" 'लोभ और प्रीति में दोनों के क्षेत्रों का विवेचन करते हुए कहते हैं, "लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख ।" ऐसे दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन में शुक्ल जी ने अपनी सरसता को बनाये रखा है । यदि कोई दार्शनिक इन विषयों का विवेचन करता तो सरसता के स्थान पर मनोविज्ञान शास्त्र की नीरसता तथा शुष्कता ही विद्यमान हो जाती । यह शुक्ल जी की विशेषता है कि गहन गम्भीर विषय में भी साहित्यिक दृष्टिकोण रखकर उसे मनोहारी बना दिया है ।

आचार्य ने प्रत्येक मनोवेग का ऐसे मार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है कि मन अनायास ही इन निबन्धों की ओर आकृष्ट हो जाता है । बड़ी गहराई के साथ दो परस्पर सम्बद्ध भावों को पास-पास रख कर उन

का अन्तर स्पष्ट किया है। जैसे 'लोभ और प्रीति' में दोनों का अन्तर स्प करते हुए कहते हैं, "मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ, औ किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।" इस प्रका भावात्मक निबन्धों में समास-शैली को अपनाकर मन से सम्बन्धित सूक्ष्म भा को बड़ी उत्कृष्टता तथा सरसता के साथ व्यक्त किया हैं। जहाँ विषय विवेचन अधिक कठिन तथा गम्भीर हो गया है वहाँ वह उसे और भी स्प तथा सरल बनाने के लिए अन्त में 'सारांश यह है' शब्दों का प्रयोग करके सा विवेचन का सार अधिक स्पष्ट शब्दों में देकर बोधगम्य बना देते हैं। यह इन शैली की एक अन्य विशेषता है।

२. सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्धों की शैली

इस वर्ग के अन्तर्गत शुक्ल जी के साहित्य तथा काव्य के सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्ध आते हैं। इन निबन्धों में भी समास-शैली की प्रधानता है। पहले किसी सिद्धान्त को शब्दों की कसावट में कस कर सुगठित रूप से सूत्रात्मक शैली में कहकर पुनः व्यास शैली के द्वारा उसे सविस्तार स्पष्ट करते हैं व्याख्या के उपरान्त निष्कर्ष पर आ जाते हैं। इन समीक्षात्मक निबन्धों में शुक्ल जी ने भारतीय सिद्धान्तों को अपनाया है। अपने गहन गम्भीर अध्ययन के उपरान्त स्वतःप्रसूत सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। सिद्धान्त प्रतिपादन में प्राचीन वाङ्मय को लेकर चले हैं। विषय की गम्भीरता के कारण भाषा बड़ी समृद्ध हो गई है। इन निबन्धों में कुछ स्थानों पर प्रतीका त्मक शैली का भी समावेश हुआ है। ऐसे चिन्तन में निस्संदेह थोड़ी क्लिष्टता आ गई है परन्तु विषय की दृष्टि से इसे दोष नहीं कहा जाएगा। इस शैली में विचारों की सघनता है। शुक्ल जी ने निबन्ध को गहन गूढ़ चिन्तन माना है इसलिए ऐसा होना सहज सम्भाव्य ही था। इसके साथ ही मन का चिन्तन भी है परन्तु ऐसे स्थानों पर वह गौण हो जाता है। इसलिए हार्दिक पक्ष लेने के कारण कहीं-कहीं सरसता भी आ गई है। 'चिन्तामणि', प्रथम भाग की भूमिका में शुक्ल जी स्वयं लिखते हैं—"यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को साथ लेकर", "बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।" अतः यदि इसमें हार्दिक पक्ष को न लिया जाता तो ये निबन्ध शुष्क हो जाते।

३. व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्ध

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', 'तुलसी का भक्ति-मार्ग,' तथा 'मानस की धर्म-भूमि' व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आते हैं। इन निबन्धों में शुक्ल जी की अपनी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें समास तथा व्यास दोनों ही शैलियों का सुन्दर समावेश हुआ है। अमूर्त भावों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के साथ बड़ी सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के साथ जोड़ा गया है। इन निबन्धों में कलाकार की विशेषताओं को उभारने के लिए उन्होंने सतत प्रयास किया है। इस आलोचनात्मक शैली में वाक्य छोटे-छोटे हैं तथा कई स्थलों पर हास्य का भी अवलम्ब लिया गया है। इनकी शैली में भावप्रेषणीयता का गुण सर्वत्र विद्यमान रहता है।

संक्षेप में आचार्य शुक्ल जी की शैली की ये ही विशेषताएं हैं। उनके निबन्धों की शैलियाँ विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं परन्तु मस्तिष्क तथा हृदय का संतुलन सर्वत्र विद्यमान रहता है। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशाली है। सूत्र रूप में विचार या सिद्धान्त को कहना, उसकी व्याख्या तथा पुनः निष्कर्ष यही वास्तव में शुक्ल जी की शैली का क्रम है। विषयानुकूल भाषा की विशुद्धता, गाम्भीर्य तथा स्वाभाविकता उल्लेखनीय है। उनकी शैली संस्कृतप्रधान होते हुए भी क्लिष्ट नहीं है। विषय के प्रतिपादन के साथ यत्र-तत्र व्यंग्य तथा हास्य के सुन्दर संतुलित पुट प्राप्त होते हैं जिससे विषय की दुरूहता का निराकरण हो जाता है। शैली की दृष्टि से शुक्ल जी के निबन्ध अनूठे हैं। वे हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ शैली-निर्माता स्वीकार किए जाते हैं। उन की शैली पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है।

प्रश्न ४—शुक्ल जी के निबन्धों की विशेषताओं पर विचार कीजिए।

उत्तर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के निबन्ध 'चितामणि', भाग १ तथा 'चिन्तामणि', भाग २ के नाम से प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों संग्रहों के विवेचन से यह पता चलता है कि शुक्ल जी ने मुख्य रूप से दो प्रकार के निबन्धों की रचना की। वे दो प्रकार के हैं—भावात्मक तथा विचारात्मक। इन निबन्धों में शुक्ल जी की कतिपय निजी विशेषताओं के कारण वे हिन्दी निबन्ध साहित्य के सर्वोत्कृष्ट निबन्धकार माने जाते हैं। अब हम उन्हीं विशेषताओं पर विचार करेंगे।

शुक्ल जी के निबन्धों में निबन्ध के सभी तत्त्वों का समावेश हुआ है।

निबन्ध का अर्थ निबन्धना करने वाला होता है। यह गद्य विद्या का प्रतिनिधि रूप है। इसमें भाषा की कसावट को परखा जाता है। कसावट का तात्पर्य है कि छोटे-से कलेवर में भी भावों का व्यवस्थित रूप उपस्थित करना। भाव शैथिल्य अथवा अनावश्यक विस्तार को निबन्ध में स्थान नहीं दिया जाता। निबन्धों की शैली ऐसी प्रभावात्मक होनी चाहिए कि उसमें पाठक की रुचि बनी रहे। आचार्य शुक्ल उसी निबन्ध को उत्कृष्ट मानते हैं, जिसमें नवीन विचारों की उद्भावना की गई हो। वे विचार एक दूसरे से शृंखलाबद्ध होने चाहिए। उनका रूप ऐसा सुसंगठित होना चाहिये कि 'पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े।' शुक्ल जी के विचारानुसार निबन्धकार में केवल बुद्धि-वैभव का होना पर्याप्त नहीं—उसके हृदय का भी पूर्ण योग होना आवश्यक है। कोरी बुद्धि द्वारा रचे गये निबन्धों में नीरसता आ जाती है। अतः निबन्ध रचना कोई बच्चों का खेल नहीं। उसमें गहन, गम्भीर विवेचन, योग्यता तथा अभ्यास की आवश्यकता है। इसी कारण शुक्ल जी ने निबन्ध को 'गद्य की कसौटी' कहा है। निबन्ध रचना में निबन्धकार का व्यक्तित्व सभी स्थानों पर वर्तमान रहता है। शुक्ल जी ने इस पर भी बल देते हुए कहा है "निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।"

उपरोक्त निबन्ध के सभी गुणों का दिग्दर्शन हमें शुक्ल जी के निबन्धों में होता है। विचारों के संगठन पर आचार्य जी ने विशेष बल दिया है। वे इसे निबन्ध का मेरुदण्ड स्वीकार करते हैं। इस विचार का शुक्ल जी ने अपने सभी निबन्धों में पालन किया है। उनका एक निबन्ध भी ऐसा नहीं होगा जिसमें विचारों की शिथिलता आई हो। वे शब्दों का ऐसा सुन्दर चयन करते हैं कि विचारों की एक शृंखला बन जाती है। अतः भावों में पूर्ण निबन्धना है।

शुक्ल जी के निबन्ध विषय-प्रधान हैं विषयी प्रधान नहीं—तथापि उन निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र दिखाई देती है। प्रायः निबन्धकार की शैली एकरूप ही रहती है। विषयानुसार उसमें परिवर्तन भी हो जाता है—परन्तु विषय के प्रतिपादन में लेख की रुचि-अरुचि, जीवन दर्शन, कार्य-क्षेत्र आदि की प्रेरणा उनके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार निबन्ध में विषय की प्रधानता होते हुए भी निबन्धकार का

व्यक्तित्व सर्वत्र उभरा हुआ प्रतीत होता हैं। प्रायः शुक्ल जी की शैली का प्रधान रूप समास अथवा सूत्र शैली का ही है। वह सिद्धान्त अथवा विचार को पहले सूत्र रूप में उपस्थित करते हैं। पुनः उनकी व्याख्या करते हैं तथा अन्त में निष्कर्ष पर पहुंच जाते है। यही उनकी निबन्ध लेखन शैली का क्रम है। इस प्रकार की शैली पर शुक्ल जी की छाप-सीं लग गई है। समास शैली के उदाहरण-स्वरूप इन सूत्रों को लिया जा सकता है। 'भाव या मनोविकार' नामक निबन्ध में भक्ति के विषय में उनका सूत्र है, 'भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।', उत्साह के विषय में 'साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है'; 'श्रद्धा और भक्ति' में 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण' तथा लोभ और प्रीति के विषय में 'मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ, और किसी प्राणी, या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।'

इसके अतिरिक्त विषय के प्रतिपादन में शुक्ल जी अनेक स्थलों पर विषयान्तर भी कर जाते हैं। यह विषयान्तर वह जान-बूझ कर करते हैं—क्योंकि इसी का आधार बनाकर वह विषय के प्रतिपादन में अपने सम्बन्ध रखने वाले भावों को व्यक्त करते हैं। किसी विषय के प्रति रुचि तथा अरुचि प्रकट करते हुए वह अपने मत को अभिव्यक्त करते हैं जैसे 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध में शास्त्रीय संगीत के प्रति अपनी अरुचि प्रकट करते हुए कहते हैं, "संगीत के दाँव पेंच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है।" इस प्रकार विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व का भी समावेश हो जाता है। विषय और व्यक्तित्व का सुन्दर समन्वय शुक्ल जी की विशेषता है।

शुक्ल जी ने भाव या मनोविकार सम्बन्धी भावात्मक निबन्धों को लिख कर हिन्दी-साहित्य को एक नवीन विषय प्रदान किया। भावों जैसे अमूर्त विषयों पर इनसे पूर्व किसी निबन्धकार की दृष्टि नहीं गई। इस विशेष प्रकार के निबन्धों के विषय का प्रतिपादन बड़े मार्मिक ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर किया गया है। दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित इन विषयों का प्रतिपादन शुक्ल जी ने एक साहित्यिक की दृष्टि से किया है। इसीलिए

इन निबन्धों में मनोविज्ञान शास्त्र की दुरूहता, जटिलता अथवा शुष्कता नहीं है —वरन् इनमें सरलता है, साहित्यिकता तथा पाठक को आकृष्ट करने की क्षमता है। मनोविज्ञान के विषयों पर साहित्यिकता का रंग चढ़ा कर उनका प्रतिपादन करना शुक्ल जी की एक अन्य विशेषता है।

विषय के प्रतिपादन में शुक्ल जी ने बड़ी गम्भीरता से काम लिया है। गम्भीर विषय के होने के कारण प्रतिपादन का गम्भीर होना स्वाभाविक ही है। परन्तु कभी-कभी इसी गम्भीरता के कारण कई स्थलों पर शुष्कता भी आ जाती है। इसी दूरूहता के कारण पाठक ऐसा अनुभव करता है मानो किसी विपदा में पड़ गया हो। सम्भवत: इसी को दृष्टि में रखते हुए शुक्ल जी जब यह अनुभव करते हैं कि प्रतिपादन अधिक गम्भीर और क्लिष्ट हो गया है तो ऐसे स्थलों पर वह अपनी हास्य-विनोद प्रकृति का प्रदर्शन करते हैं। जैसे 'लोभ और प्रीति' के विवेचन में मोटे आदमियों की हँसी उड़ाते हुए वे कहते हैं—"मोटे आदमियो ! तुम जरा-सा दुबले हो जाते अपने अन्देशे से ही सही तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता ।" इसी निबन्ध में एक अन्य स्थल पर लोभियों की व्याजनिन्दा करते हुए वह अन्य व्यंग्य कसते हैं, 'लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता । लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान् अपमान में समान भाव रखते हैं।' इस प्रकार अपनी हास्य, व्यंग्य की प्रकृति द्वारा वे वह गहन गम्भीर विषय में भी सरसता का संचार कर देते हैं।

भावात्मक तथा विचारात्मक दोनों प्रकार के निबन्धों में शुक्ल जी की भाषा प्रौढ़, मंजी हुई तथा विषय-प्रतिपादन के उपयुक्त है। भावात्मक निबन्धों की भाषा समीक्षात्मक निबन्धों की अपेक्षा सरल है। उसमें तद्भव शब्दों को भी अपनाया गया है तथा मुहावरों को भी प्रश्रय मिला है। भाषा की कसावट की दृष्टि से शुक्ल जी का एक शब्द भी अनावश्यक नहीं है। उनकी भाषा में इतनी कसावट है कि वाक्य में से यदि एक शब्द भी निकाल दें या इधर-उधर कर दें तो वाक्य ही निरर्थक हो जाता है, भावों का तारतम्य ही नहीं रह जाता और विचारों की शृंखला अस्त-व्यस्त हो जाती है —जो कि निबन्ध का आवश्यक गुण है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी भाषा विषयानुसार सरल, गम्भीर तथा सुगठित है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि शुक्ल जी के निबन्धों में विचारों

का संघटन है। विषय और व्यक्तित्व का सुन्दर समन्वय इनकी विशेषता है। प्रधान रूप से समास शैली को अपनाया गया है। इनकी प्रवृत्ति शुद्ध साहित्यिक है। व्यक्तित्व में गाम्भीर्य के साथ-साथ हास्य-विनोद की प्रकृति भी निबन्धों में झलक पड़ती है। शुक्ल जी ने मस्तिष्क तथा हृदय के अभिनव विषय प्रदान किए हैं। आपके निबन्ध हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

प्रश्न ५—रामचन्द्र शुक्ल की शैली में शुष्कता और नीरसता पर संक्षिप्त रूप से विवेचन करते हुए अपना मत दीजिए।

उत्तर—शुक्ल जी गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे। उच्छृंखलता से उन्हें घृणा थी। इसीलिए उनकी सभी रचनाओं में गम्भीर प्रकृति के ही दर्शन होते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा सभी प्रौढ़ तथा गम्भीर है। उनके विषय भी गम्भीर हैं। उनके विषयों में या तो भाव तथा मनोविकार सम्बन्धी गहन वैज्ञानिक चित्रण हैं या साहित्य सम्बन्धी गवेषणात्मक विवेचन। यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य में गम्भीरता का वातावरण छाया रहता है। इसीलिए कतिपय विद्वान शुक्ल जी की इस गहन-गूढ़ गम्भीर प्रकृति की चित्रण ैली पर नीरसता तथा शुष्कता का दोष लगाते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है।

शुक्ल जी का अध्ययन करने के लिए प्रखर बुद्धि तथा विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता है। साधारण ज्ञान वाला व्यक्ति उनकी कृतियों से रसास्वादन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति केवल मनोरंजन के लिए उनका अध्ययन करता है उसके लिए शुक्ल जी की रचनाएँ अवश्य ही जटिल, शुष्क तथा नीरस हो सकती हैं। उनकी कृतियों से आनन्द-प्राप्ति के लिए गहराई में जाना पड़ता है। उनके विषय में 'जिन खोया तिन पाइया गहरे पानी पैठ' वाली उक्ति पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है।

विषयानुसार शुक्ल जी का चित्रण गम्भीर है परन्तु विषय परिवर्तित होते ही उनका विवेचन भी सरल हो जाता है। जैसे उनके जिन निबन्धों का सम्बन्ध साहित्य के साथ है, उसमें अधिक गम्भीरता है क्योंकि वह विषय ही अपने आप में इतना गम्भीर है कि यदि उसको गहराई के साथ न देखा जाए तो सुचारु रूप से उसका निर्णय कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी ने तो साहित्य सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों का प्रणयन भी किया है, जिनका उल्लेख उन्होंने सूत्र शैली में किया है। कुछ पाठक तो

उनकी समास शैली को ही देख कर उसे नीरस समझ बैठते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। यदि शुक्ल जी अपने सूत्रों की व्याख्या उपस्थित न करते तब तो हम उनके सूत्रों को नीरस या शुष्क कह सकते थे—परन्तु उन्होंने पाठकों की सुविधा के लिए ही प्रत्येक सूत्र की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। इसलिये उनमें जटिलता या दुरूहता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण साहित्य में सूत्र शैली को सर्वोत्कृष्ट शैली माना गया है। भावात्मक निबन्धों में भावों का विश्लेषण, उनका समाज पर प्रभाव तथा व्यावहारिक जीवन में उनके महत्त्व को दर्शाने के लिए यदि गम्भीर विवेचन न किया जाता तो आचार्य जी का आचार्यत्व अधूरा ही रह जाता। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उनमें महत्त्व प्रदर्शन की प्रवृत्ति थी। अपितु हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि उनके विषय ही ऐसे हैं, जिनके लिए गाम्भीर्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था।

आचार्य जी के कुछ स्थलों पर ऐसा देखा जाता है कि कहने के लिए कोई विशेष बात नहीं होती पर उसे ऐसे ढंग से उपस्थित किया जाता है कि अनायास ही उसमें विशालता प्रतीत होने लगती है। इसके प्रतिपादन में इतनी गम्भीरता आ जाती है कि उसमें रूखापन प्रतिभासित होने लगता है और पाठक को ऐसा अनुभव होता है मानो, वह पत्थर फोड़ कर आगे बढ़ रहा हो। इसी को दृष्टि में रख कर गम्भीर विषय को सरस बनाने के लिये शुक्ल जी भावों में विरोधाभास का प्रयोग करते हैं। जैसे 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में लोभियों के दोष को दिखाने के लिए व्याज-निन्दा द्वारा उनका गुणगान करते हुए कहते हैं कि लोभी लोभ के बल से काम, क्रोध, वासना, मानापमान पर विजय प्राप्त करते हैं। कितने मनोरंजक ढंग से उन्हें सम्बोधित किया गया है—"लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय, विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार!!" इस प्रकार जिन स्थलों पर प्रतिपादन अधिक गम्भीर हो गया है उसमें हास्य-विनोद का पुट लगाकर उसे मनोरंजक बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। यह उनकी निजी विशेषता है। इसी कारण उनकी कृतियों—साहित्य, गद्य, पद्य, सभी में बुद्धि तथा हृदय का सुन्दर सामाञ्जस्य उपलब्ध होता है।

भाषा तथा विषय की गम्भीरता का निर्माण करने के लिए वह मनोरंजक उदाहरण देते हैं। जैसे प्रेम और दया का संबंध बतलाने के लिए वह उर्दू शायरी की ओर संकेत करते हैं—"प्रेमी जीते जी यार के कूचे में कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार-बार मर कर अपना हाल सुनाया करते हैं।" कतिपय स्थलों पर वह स्वानुभूति द्वारा विषय को और भी अधिक स्पष्ट करते, सुन्दर व्यंग्य कसते हैं। 'लोभ और प्रीति' निबंध में अपने लखनवी दोस्त के साथ जाते हुए आप वसन्त का वर्णन करते हुए कहते हैं, "मेरे मुख से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है,' इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा : 'यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिये, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा-भारी बट्टा लगता है!" व्यंग्य का कैसा सुन्दर पुट है। इस प्रकार के रोचक वर्णन तथा प्रवाहपूर्ण भाषा में यदि नीरसता या शुष्कता का आरोप कोई करता है तो किया करे। इसमें शुक्ल जी का दोष नहीं, वरन् पाठक की संकुचित बुद्धि का ही दोष कहना चाहिए।

संक्षेप में हमारे मतानुसार शुक्ल जी की शैली सरस तथा साहित्यिक गुणों से परिपूर्ण है। उनके निबंधों के विचार बड़े गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण हैं। विचारात्मक निबंधों का गुण भी यही है। ऐसी विचारात्मक गम्भीरता सर्वसाधारण के लिए भले ही दुरूह, नीरस, शुष्क या जटिल हो, पर साहित्य-प्रेमियों के लिए वह सबसे अधिक आनन्ददायिनी है। साहित्य मर्मज्ञ इसी गहन, गूढ़, गम्भीर चिन्तन में ही रस का आस्वादन करते हैं। शुक्ल जी की साहित्यिक आलोचनायें, काव्य तथा निन्बध हिन्दी साहित्य के लिए बहुत बड़ी देन हैं।

१. भाव या मनोविकार

प्रश्न ६—भाव या मनोविकार से क्या तात्पर्य है? मानव जीवन में उसके महत्त्व पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालिए।

उत्तर—मानव जीवन का आरम्भ दुःख और सुख के सामान्य ज्ञान से होता है। बच्चे का रोना और हँसना उसकी इसी अनुभूति का प्रत्यक्षीकरण है। आरम्भ में इन दोनों अनुभूतियों का रूप बिल्कुल सामान्य होता है।

उनके जीवन में विशेष महत्व की ओर तब तक दृष्टि नहीं जाती।

भाव या मनोविकार की परिभाषा देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं "नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं, जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।" बच्चे की इसी अनुभूति को जब अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो वह भिन्न-भिन्न रूप धारण करके भाव या मनोविकार कहलाती है। इस प्रकार दुःख और सुख ही वास्तव में मूल अनुभूतियाँ हैं। विषयों की अनेकता के कारण इनमें जो भेद उत्पन्न हो जाता है उसी के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा आदि मनोविकारों का नया या परिवर्तित रूप ग्रहण करती हैं। शुक्ल जी ने इन मनोविकारों को अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया है। 'क्रोध' नाम के मनोविकार को स्पष्ट करने के लिए वे उदाहरण देते हुए कहते हैं—"यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीडा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा, पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभाने वाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक बृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी, जिसे क्रोध कहते हैं।" निश्चित रूप से भावी अनिष्ट से जो दुःख की अनुभूति होती है उसे भय कहते हैं। छोटे बच्चे में अज्ञान के कारण निश्चय नहीं हो पाता, इसी कारण उसे भय का भी ज्ञान नहीं होता।

भाव या मनोविकारों में परस्पर तथा दुःख-सुख की मूल अनुभूति से भिन्नता होती है, ठीक इसी प्रकार जैसे रासायनिक मिश्रण एक-दूसरे से तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्नता रखते हैं। विषय ज्ञान तथा उनसे उद्भूत इच्छाओं से मनोविकारों का विकास होता है। दुःख या हानि का ज्ञान हो जाने से मूल अनुभूति 'दुःख' मात्र से ही कार्य सम्पन्न नहीं होता, अपितु इस अवसर पर मनुष्य को क्रोध नामक भाव की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसी पर आधृत व्यक्ति क्रियाशील प्रतीत होता है। इस क्रियाशीलता का मूल कारण इच्छाएँ हैं। इन अनुभूतियों का क्षेत्र बड़ा सीमित है। इनका संबंध केवल शारीरिक क्रियाओं तक ही है, जैसे—रोना, हँसना, हाथ-पैर पटकना, दाँत निकालना आदि। इनके द्वारा भावना, इच्छा या प्रयत्न का स्पष्ट रूप प्रतीत नहीं हो पाता। परन्तु बिना इच्छा के किसी की शारीरिक

क्रिया को हम प्रयत्न नहीं कह सकते ।

हम किसी भी भाव का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा नहीं दे सकते । 'कम्प', 'क्रोध', 'भय', प्रेम आदि अनेक भावों के कारण हो सकता है, परन्तु जब तक प्रयत्नों के द्वारा इच्छा का स्पष्टीकरण नहीं होता, तब तक किसी भाव-विशेष की घोषणा नहीं की जा सकती । सभ्य जातियों में शारीरिक प्रयत्नों का स्थान शब्दों ने ले लिया है । शब्दों में ऐसी व्यंजनाशक्ति है कि वह मनुष्य की इच्छाओं को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकते हैं । यही कारण है कि अनुभव में आश्रय की उक्तियों को अधिक महत्त्व दिया जाता है । इनसे भावों की गम्भीरता स्पष्ट हो जाती है । उदाहरण के लिए 'कहीं वह वस्तु मिल जाती' लोभ की पूर्ण रूप से व्यंजना करती है । वीर-रस की उक्तियों में जितना प्रसार होता है उतना तलवार हाथ में लेकर लड़ाई के मैदान में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं । इसका कारण यह है कि वाणी का क्षेत्र अपरिमित है । इसके विपरीत भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्नों का क्षेत्र सीमित है । सशक्त भाषा के द्वारा उक्तियों में सदैव नवीनता बनी रहती है ।

मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का प्रवर्तन भाव या मनोविकारों द्वारा ही होता है । मनुष्य के स्वभाव का निर्माण यही भाव ही करते हैं । उसका सदाचार, लोक-रक्षा, लोक-रंजन, राजनीति, धर्म-शासन सभी की व्यवस्था इन्हीं भावों या मनोविकारों द्वारा ही होती है । यही कारण है कि मानव जीवन में भाव या मनोविकारों का बड़ा महत्त्व है । समाज के इन भावों का सदुपयोग भी किया गया है, पर दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ । जैसे भावों से ही प्रेरित होकर समाज में कई सम्प्रदाय बन गये । साम्प्रदायिता के संकीर्ण क्षेत्र में फंसकर भाव का क्षेत्र भी परिमित हो गया । शुक्ल जी के अनुसार "भाव-क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है । उसका ऐसा दुरुपयोग करना विश्व के प्रति घोर अपराध है ।"

शासन मनुष्य को केवल यही बताता है कि अमुक कार्य करो, अमुक न करो । उसका क्षेत्र बाहरी व्यवस्था करना है; मूल तक वह नहीं पहुँच सकता । यह कार्य कविता का ही है, जो कि मूल प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को सदैव जागृत रखती है । धर्म के क्षेत्र में भक्ति भाव को भी वही उत्पन्न करती है । "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है ।" भाव की रागात्मकता के कारण मनुष्य संसार से अपना सम्बंध स्थापित करता है । इसी से उसमें लोक-कल्याण की भावना का उदय होता है । संसार के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए

बड़े अभ्यास की आवश्यकता है। अतः हृदय को विशाल तथा सम्वेदनशील बनाना चाहिये। ऐसा करने से मानव अपने सुख और आनन्द का समस्त संसार के सुख और आनन्द के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेगा। मानव इस विश्व का सच्चा प्रतिनिधि तभी माना जायगा जब वह चराचर, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सब की लाभ-हानि में अपनी लाभ-हानि मानने लगेगा। कविता इसी मूल उद्देश्य की पूर्ति करती है। सच्चे कवियों के काव्य से हमें सदैव यही प्रेरणा मिलती रही है।

प्रश्न ७—"निबन्ध लेखन में आचार्य शुक्ल ने एक साहित्यिक के रूप में ही भावों अथवा मनोविकारों पर विचार किया है, मनोवैज्ञानिक के रूप में नहीं। भावों और मनोविकारों पर विचार करते हुए भी वे अपनी साहित्यिकता को नहीं त्याग सके।" (आगरा विश्वविद्यालय, सन् १९५१)।

उपरोक्त कथन के विषय में आपका क्या विचार है?

उत्तर शुक्ल जी एक उत्कृष्ट साहित्यिक के रूप में हमारे सम्मुख आते ही हैं। मनोविज्ञान के विषय में उनका अध्ययन और ज्ञान उतना ही है, जितना कि एक साहित्यिक का होता है। उन्होंने प्रथम बार मनोविज्ञान के विषयों को अपने निबन्धों में प्रश्रय दिया। परन्तु मनोविज्ञान से संबंधित भावों या मनोविकारों के विश्लेषण में उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति को ही अपनाया है। इनका चित्रण एक साहित्यिक की दृष्टि से किया है न कि मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से। यदि इन सम्बंधों में वह मनोविज्ञान-शास्त्र का सहारा लेते तो ये निबंध नीरस तथा क्लिष्ट बन जाते। साहित्यिक विश्लेषण के कारण ही उनमें सरसता, सरलता और हृदय-स्पर्श करने के गुण सर्वत्र दिखाई देते हैं।

आचार्य शुक्ल जी के इन मनोवैज्ञानिक निबंधों की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं। जिनके कारण वे समाज के आकर्षण का विषय बने हैं।

शुक्ल जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने निबंधों में चाहे वे मनोवैज्ञानिक हों या विचारात्मक अपनी मान्यताओं को प्रमुख स्थान देते हैं। उनकी सबसे प्रमुख मान्यता है, लोक-मंगल या लोक-कल्याण के भाव को। इस सिद्धांत या मान्यता के दर्शन हमें लगभग उनके सभी निबंधों में होते हैं। जैसे 'उत्साह' नामक निबंध में कर्म-सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए वह कर्मवीर को सबसे श्रेष्ठ मानते हैं—क्योंकि उसमें लोकरक्षा का भाव निहित

होता है। उनके शब्दों में "कर्म-सौंदर्य के सच्चे उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।" कर्म करने से समाज कर्मण्यता के भाव से उत्साहित होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है।

भाव किस प्रकार विकसित होते हैं इसका अध्ययन भी शुक्ल जी ने अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार किया है। जिस प्रकार 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में लोभ का इच्छा से सम्बन्ध, इच्छा के दो भेद—(क) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा, (ख) दूर न करने या नष्ट न करने की इच्छा तथा पुनः इनके दो-दो भेद करके शुक्ल जी ने लोभ के व्यावहारिक ज्ञान पर ही प्रकाश डाला है। यदि वे इसका मनोवैज्ञानिक के रूप में चित्रण करते या विश्लेषण करते तो यह शास्त्रीय रूप में होता। उस दशा में फिर लोभ का मस्तिष्क की बनावट और मस्तिष्क के अंगों से सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता, लोभ के हेतु को ज्ञात करने का प्रयत्न होता और मस्तिष्क का शक्ति की निरीक्षण किया जाता। इसके अतिरिक्त संसार के प्रभावों से मस्तिष्क की क्या दशा होती है, इसे भी बताया जाता।

विषय के प्रतिपादन में आचार्य जी बहुधा उद्धरणों का प्रयोग करते हैं। इन उद्धरणों में सर्वत्र उनकी साहित्यिकता झलकती है। जैसे 'श्रद्धा-भक्ति' में समीपता की (कामना) करते हुए रसखान का उद्धरण है : 'मानुष हों तो वही रसखान बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन !' 'करुणा' में तुलसी दास जी के तथा सूरदास जी के कई उद्धरण दिये हैं। तथा 'लोभ और प्रीति' में लोभ के प्रसंग में रहीम का एक उदाहरण देखिए—

'रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ मांगन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं'

इसी प्रकार उनके लगभग सभी निबन्धों में तर्क और बुद्धि समाहित रहते हैं, पर आचार्य जी के मनोवैज्ञानिक निबन्ध बुद्धि के साथ-साथ हृदय पक्ष को भी लिये हैं। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में जहाँ देश-प्रेम का वर्णन किया है वहाँ वे कहते हैं, "भाइयो ! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उनके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी

मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं।" इस प्रकार के उदाहरणों में बुद्धि के साथ हृदय का भी सुन्दर समावेश करना शुक्ल जी की निजी विशेषता है। इससे उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति और भी स्पष्ट होती है।

शुक्ल जी के मनोविज्ञान में नीति की प्रधानता है। उनकी नीति गोस्वामी तुलसीदास की नीति से अधिक मेल खाती है। यही कारण है कि शुक्ल जी गोस्वामी जी को श्रेष्ठ कलाकार स्वीकार करते हैं। गोस्वामी जी की भाँति इनकी नीति भी नीचता और बुराई को क्षमा करना हानिकारक समझती है। जैसे "श्रद्धा भक्ति" नामक निबन्ध में ढोंग रचाने वालों के लिए आप लिखते हैं, "पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिये फूलों की पंखड़ियां आजकल लाल बनात बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिये हैं, पर उन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत-से चोर, चाँई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिये। इन्हें सामाजिक दण्ड देने के लिये उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिये।"

शुक्ल जी ने मनोवेगों को स्पष्ट करने के लिए परस्पर मिलती-जुलती वृत्तियों के अन्तर को बड़ी सूक्ष्मता के साथ समझने का प्रयास किया है। जैसे 'श्रद्धा-भक्ति' में श्रद्धा और प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त।" श्रद्धा और भक्ति के भेद के विषय में आप कहते हैं, "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" 'करुणा' नामक निबन्ध में करुणा और दया दोनों के भेद को बताया है, कृपा और करुणा के अन्तर को स्पष्ट किया है। 'लज्जा और ग्लानि' में लिखते हैं, "लोभ सामान्योन्मुख होता है, और प्रेम विशेषोन्मुख।" "वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है, उसे 'प्रेम' कहते हैं।" इस प्रकार मनोविकार सम्बन्धी सभी निबन्धों में परस्पर सम्बन्धित वृत्तियों को बड़ी बारीकी के साथ शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है।

मनोविकारों को शुक्ल जी ने दो भागों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार "मनोविकार दो प्रकार के होते हैं – प्रेष्य और अप्रेष्य। प्रेष्य वे हैं जो एक के हृदय में पहले के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले

के प्रति उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे क्रोध, घृणा, प्रेम इत्यादि।.........अप्रेष्य मनोविकार जिनके प्रति उत्पन्न होते हैं उनके हृदय में यदि करेंगे तो सदा दूसरे भावों की सृष्टि करेंगे। इनके अन्तर्गत भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं।"

मनोवैज्ञानिक निबन्धों में ज्ञान, बुद्धि की प्रधानता होने के कारण उनमें भावों की दुरूहता आ जाती है। उसमें नीरसता का संचार हो जाता है। इन निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व उभर ही नहीं पाता। इसी कारण शुक्ल जी के इन निबन्धों में साहित्य का आलम्बन लेकर अपने व्यक्तिगत संस्मरणों और अनुभवों का बखान किया है, अपने व्यक्तित्व की छाप-सी लगा दी है। उन्होंने अपनी विनोद-व्यंग्यपूर्ण प्रकृति को निबन्धों में समाहित करके उनमें रोचकता ला दी है। उनके व्यंग्य, विनोद बड़ी उच्चकोटि के हैं। कई स्थलों पर इन्होंने पाश्चात्य की मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का विरोध भी किया है। यही कारण है कि इनके निबन्ध मनोविज्ञान पर आवृत होते हुए भी मनोवैज्ञानिक नहीं हैं। विषय निस्सन्देह मनोविज्ञान के हैं पर उनका विवेचन अपना है, सिद्धांत और स्थापनाएँ उनकी अपनी हैं। वह किसी भी निबंध में अपनी साहित्यिकता को नहीं भूलते। मनोविज्ञान में समाज और मनुष्य का विवेचन अलग-अलग होता है—पर इनके साहित्यिक निबंधों में मनोविकारों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया है। इसी कारण शुक्ल जी बड़ी सफलतापूर्वक बुद्धि और हृदय का समन्वय करने में सफल हो सके हैं। उनके निबंधों में मनोविज्ञान की दुरूहता और रूक्षता नहीं है। उनमें साहित्यिकता है, शुक्ल जी के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। उनकी व्यंग्य-विनोद-पूर्ण प्रवृत्ति ने इन निबंधों को और भी रोचक, सरल और आकर्षण बना दिया है। अतः उनके निबंध पूर्ण रूप से साहित्यिक हैं। इनका निर्माण एक मनोवैज्ञानिक के द्वारा नहीं हुआ अपितु एक मर्मज्ञ साहित्य-शास्त्री ही इनका निर्माता है शुक्ल जी के निबंध हिंदी साहित्य-जगत् की अपूर्व निधि है।

२. उत्साह

प्रश्न ८—उत्साह नामक मनोविकार की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

उत्तर मानव मन में साहसयुक्त आनंद की उमंग को उत्साह के नाम से सम्बोधित किया जाता है। कर्म में पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न उत्साह के लक्षण हैं। उत्साह में व्यक्ति हानि तथा कष्ट सहन करने को

सदैव तैयार रहता है। इसी कारण हानि और कष्ट के भेद को दृष्टि में रख कर साहित्यशास्त्रियों ने उत्साह को युद्ध-वीर, दान-वीर और दया-वीर आदि भेदों में विभक्त किया है। केवल कष्ट और हानि सहन करना ही पर्याप्त नहीं वरन इनके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न की भी अपेक्षा रहती है। शुक्ल जी के मतानुसार "धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।" जैसे किसी भी दानी की दान-वीरता इसी में है, कि वह दान देते समय अपने जीवन-निर्वाह में किसी कठिनाई या कष्ट अनुभव करते हुए प्रसन्न-चित्त और अपूर्ण तत्परता से दान करे। इसी प्रकार की दान-वीरता उच्च श्रेणी की दान-वीरता होती है। यदि प्रसन्नतापूर्वक दान नहीं किया जाता तो वह दान-वीरता की श्रेणी में नहीं आता, इसीलिए उसे हम उत्साह भी नहीं कह सकते। युद्ध ही नहीं अपितु और भी कतिपय कार्य ऐसे होते हैं, जिनमें प्राण-हानि की संभावना सदैव बनी रहती है जैसे अनुसन्धान के लिए हिमाच्छादित अगम्य पर्वतों पर चढ़ना, रेगिस्तान तथा क्रूर जंगली जातियों वाले भयानक जंगलों को पार करना भी उत्साह के अन्तर्गत आता है क्योंकि ऐसे कार्य-प्रयत्नों में मृत्यु-संकट अत्यन्त समीप होता है।

शुक्ल जी उत्साह के क्षेत्र को बड़ा व्यापक मानते हैं। उनका मत है कि केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं, अपितु 'मानसिक कष्ट की आशंका में भी कार्य में प्रवृत्त रहना उत्साह कहलाता है। इसी कारण कई व्यक्ति मानसिक कष्ट या संसार की उपेक्षा करते हुए सामाजिक कुरीतियों को दूर करने लिए सदैव तैयार रहते हैं। किंतु जो व्यक्ति परिणाम के शुभ-अशुभ की चिंता न कर प्रशंसा या नाम-प्राप्ति के लिए ऐसे कार्यों में संलग्न रहते हैं, वे सच्चे उत्साही नहीं कहलाते। उत्साह वही सुन्दर होता है जो मनुष्य को सदैव कर्त्तव्य कर्मों की ओर प्रेरित करता है। अकर्त्तव्य कर्मों के प्रति अग्रसर करने वाला उत्साह प्रशंसनीय नहीं होता। केवल कर्म-मात्र के लिए जो तत्परतायुक्त आनंद दृष्टिगोचर होता है उसे भी उत्साह कहा जाएगा। जैसे किसी प्रिय-मित्र के आगमन का समाचार सुनकर उसे लिवाने, मिलने के लिए उत्सुक होना तथा उसके रहने के लिए सुव्यवस्था करते हुए प्रसन्नता का अनुभव करना आदि उत्साह के ही अंतर्गत आता है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या उत्साही को कर्म-वीर कहना चाहिए या युद्ध-वीर? शुक्ल जी के अनुसार "अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति

बुद्धि व्यापार के अवसर पर होती है, अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में
तत्पर होने की दशा में ।" साधारणतः यही देखा जाता है कि उद्योग की
तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यंजना होती है। इसलिए उत्साही को कर्म-वीर
कहना ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। उत्साही की दृष्टि आरम्भ से
अन्त तक कर्म शृंखला से होती हुई फल तक पहुँच जाती है। उसकी दृष्टि वस्तु
या व्यक्ति पर नहीं ठहरती। कार्य करने का भाव उत्साह उत्पन्न करता है
जिसमें साहस और आनन्द का योग रहता है।

कर्म-भावना से उत्पन्न आनन्द के तीन रूप हैं:—१. कर्म भावना से उत्पन्न
आनन्द, २. फल-भावना से उत्पन्न तथा ३. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से
प्राप्त आनन्द। इन तीनों रूपों में से कर्म-भावना से प्रसूत आनन्द ही सच्चा
आनन्द है क्योंकि वीर की दृष्टि में कर्म तथा फल में कोई अन्तर नहीं होना।
कर्म-भावना में जितनी तीव्रता होगी उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होगा।
फल-भावना से प्रसूत आनन्द में समरसता नहीं रहती, क्योंकि ज्यों-ज्यों फल की
आशा कम होती जाती है त्यों-त्यों आनन्द की मात्रा गिरती जाती है। कर्म-
भावना प्रधान उत्साह सदैव एक-रस रहता है। यही कारण है कि आचार्य
शुक्ल जी कर्म-भावना प्रधान उत्साह को ही सच्चा उत्साह स्वीकार करते हैं।

वास्तव में उत्साह कर्म तथा फल की मिश्रित अनुभूति है। इसी से प्रेरित
होकर मानव कार्य करने को तत्पर हो जाता है। यह भी सत्य है कि फल की
भावना से भी मनुष्य कार्य में लीन होता है। पर केवल फल पर दृष्टि रखना
पर्याप्त नहीं है। कर्म को प्रधानता देते हुए फल-प्राप्ति करनी चाहिए। प्रयत्न
में कर्म-रुचि का होना अति आवश्यक है। रुचि-रहित कर्म में सफलता की
उपलब्धि होना सम्भव नहीं है। मनुष्य को सदैव प्रस्तुत कर्म की प्रधानता देनी
चाहिए। जो व्यक्ति उत्साहपूर्वक आनन्द से कार्य करता रहता है उसे यदि फल
की प्राप्ति न भी हो तो भी ऐसे व्यक्ति से अधिक अच्छा है कि जिसने कोई
भी कार्य नहीं किया। उसके मन में इतना सन्तोष तो रहता है उसने कोई प्रयत्न
किया है। प्रयत्न को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं, "बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप
से निश्चित की हुई व्यापार परम्परा का नाम ही प्रयत्न है।" इस प्रकार बुद्धि
द्वारा निश्चित करके जिन कार्यों में मनुष्य संलग्न होता है वही प्रयत्न कहलाते
हैं। फल की प्राप्ति इन्हीं अनुकूल प्रयत्नों पर निर्भर रहती है। जैसे यदि किसी
परिवार में कोई व्यक्ति बीमार पड़ जाता है, तो उसके लिए किए गए

उपचार, डाक्टर-वैद्य को बुलाने में दौड़-धूप तथा सेवा-भाव अनुकूल प्रयत्न ही कहलायेंगे। बीमार व्यक्ति ठीक हो या न हो, पर सेवा करने वाले के मन में यह सन्तोष रहता है कि उसने अपने कर्त्तव्य का पालन तो किया है। उसको इसी दौड़-धूप में ही आनन्द मिलता है। उसकी आत्मा शांत रहती है।

जो मनुष्य कर्म में सदैव आनन्द का अनुभव करते है, वही कर्मण्य कहलाते हैं। धार्मिक तथा उदार स्वभाव वाले व्यक्ति अपने लोकोपकार में ही सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं। वे इसी में फल प्राप्ति का अनुभव करते हैं। उनके मन में फल की लालसा इतनी नहीं रहती जितनी कि कार्य में तत्परता। वे ही सच्चे कर्म-वीर कहलाते हैं।

मनुष्य का चित्त सदैव उत्साहित रहना चाहिए। यदि यह उत्साहपूर्ण रहता है तो वह अन्य कार्यों में भी उत्साह प्रदर्शित करता है। जब किसी मनुष्य की किसी बहुत बड़ी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो उसके सम्मुख जितने भी कार्य आते हैं सब में वह हर्ष और तत्परता से भाग लेता है। इसी को उत्साह कहते हैं, ऐसी मनोदशा उत्साह के अतिरिक्त अन्य मनोविकारों में भी उपलब्ध होती है। जैसे मनुष्य की क्रोध की अवस्था में यदि उसके सामने कोई अन्य व्यक्ति आ जाता है तो उस पर भी वह अकारण झुंझलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हमारा मन उत्साहित रहता है तो हम अनेक कार्य आनन्दपूर्वक और उत्साह से सम्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं।

---

३. श्रद्धा-भक्ति

प्रश्न १– 'श्रद्धा-भक्ति' के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर श्रद्धा - किसी मनुष्य-विशेष में जन-साधारण से विशिष्ट गुण तथा शक्ति को देखकर मन में उस व्यक्त के प्रति जो विशेष भाव उत्पन्न होता है, उसे श्रद्धा कहते हैं। उस व्यक्ति के महत्त्व को स्वीकार करने में किसी प्रकार की विवशता नहीं होती। मनुष्य अनायास ही उसे स्वीकार कर आनन्द का अनुभव करता है। हमारी श्रद्धा का पात्र सज्जन, गुणवान, वीर, दानी तथा विद्वान, परोपकारी ही हो सकता है। श्रद्धालु श्रद्धेय की निन्दा या बुराई न सुन सकता है न सहन कर सकता है। इसलिए शुक्ल जी का कथन है, "इससे

सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार का वांछित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

श्रद्धा और प्रेम में विशिष्ट अन्तर होता है। श्रद्धा का क्षेत्र विस्तृत होता है तथा प्रेम का क्षेत्र सीमित होता है। शुक्ल जी के अनुसार "प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य अच्छा लगे; पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।" यही कारण है कि मनुष्य से प्रेम करने वाले दो एक ही मिलते हैं पर श्रद्धा रखने वालों की संख्या करोड़ों तक पहुँच जाती है। मनुष्य के सभी कार्यों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। इसलिए गुणवान व्यक्ति अपने सुकर्मों द्वारा ही समाज के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। प्रेमी स्वप्नों के संसार में प्रिय के साथ विचरण कर सकता है परन्तु श्रद्धालु अपने श्रद्धेय पात्र के कार्यों का विवरण विस्तृत जगत् में आंकता है। इसी कारण शुक्ल जी ने लिखा है 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेम में दो पक्षों की ही प्रधानता रहती है (प्रिय और प्रेमी की)। पर श्रद्धालु, श्रद्धेय और मध्यस्थ तीन पक्ष अनिवार्यतः रहते हैं। बहुधा प्रेम का कारण अज्ञात होता है—पर श्रद्धा का कारण प्रत्यक्ष रूप में ज्ञात तथा निर्दिष्ट होता है।'

श्रद्धा में कर्म की प्रधानता होती है और प्रेम में व्यक्ति की प्रधानता होती है। प्रेमी अपने प्रियतम पर अपना अधिकार रखना चाहता है—पर श्रद्धा के प्रति कोई भी श्रद्धालु अपना अधिकार नहीं जमाना चाहता। इसलिए आचार्य शुक्ल श्रद्धा को एक सामाजिक भाव मानते हैं- पर प्रेम एक स्वार्थ-पूर्ण व्यक्तिगत भाव है। श्रद्धालु की सदैव यही कामना होती है कि उसके श्रद्धापात्र के श्रद्धालुओं की संख्या में और भी वृद्धि हो—परन्तु प्रेमी यह कभी भी नहीं चाहता है कि जिससे वह वह प्रेम करता है, विश्व के अन्य पुरुष भी उससे प्रेम करने लगें। कारण कि प्रेम एक संकुचित भाव है। श्रद्धालु अपने भाव में विश्व को भी सम्मिलित करने का प्रयत्न करता है—पर प्रेमी ऐसा कभी नहीं चाहता।

कृतज्ञता के भाव को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी का कथन है, "श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लए कोई बात नहीं चाहते।........श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है,

जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते हैं।" समाज ने मनुष्य को सदाचार पर श्रद्धा तथा अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने का अधिकार सौंप रखा है। जो भाव व्यक्तिगत उपकार के प्रति उत्पन्न होता है, उसे कृतज्ञता तथा जो भाव सर्वसाधारण के उपकार के लिए होता है उसे श्रद्धा के अन्तर्गत लिया जाता है। श्रद्धा में दूसरे महत्त्व को आवश्यक रूप से स्वीकार करना पड़ता है। स्वार्थियों और अभिमानियों की संकुचित विचारधारा होने के कारण उनमें श्रद्धा का भाव नहीं समा सकता। उनके संकुचित हृदय में श्रद्धा ऐसे विस्तृत तथा पवित्रभाव को ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती।

शुक्ल जी ने श्रद्धा को तीन भागों में विभक्त किया है :—

(१) प्रतिभा-सम्बन्धिनी ;
(२) शील-सम्बन्धिनी ;
(३) साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रतिभा-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में गुण-ग्राहकता और निपुणता का होना आवश्यक है। जब तक श्रद्धालु में निपुणता का गुण नहीं होगा, तब तक वह किसी गुण का सूक्ष्मता से निरीक्षण नहीं कर सकता। शील-सम्बन्धिनी श्रद्धा को शुक्ल जी प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य स्वीकार करते हैं। वस्तुतः शील धर्म का दूसरा नाम है। सदाचारी के प्रति श्रद्धा दिखाकर हम अपने सामाजिक धर्म के कर्त्तव्य का पालन करते हैं। धर्म ही मानव समाज का आधार-स्तम्भ है। इसी कारण शुक्ल जी श्रद्धा को धर्म का पहला सोपान स्वीकार करते हैं तथा धर्म को दूसरा। व्यक्ति किसी सदाचारी या आदर्शवान पुण्यात्मा में श्रद्धा रखकर ही कार्य में अग्रसर होता है। साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा का अर्थ योग्यता से है। इस श्रद्धा का मनुष्य अनुपयोग भी कर सकता है, सदुपयोग भी और दुरुपयोग भी। इसी में अमुक व्यक्ति की योग्यता का पता चलता है। जैसे एक बलवान् व्यक्ति चाहे तो अपने बल को देश के हित के लिए व्यय कर सकता है और चाहे तो उसे बुरे कार्यों में लगाकर उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। यही बात संगीत तथा साहित्य में लागू होती है। अभ्यास के बल पर एक संगीतज्ञ संगीत की आत्मा तथा साहित्याचार्य अलंकारों का मनमाना प्रयोग कर काव्य की आत्मा पर कुठाराघात करता है। इस प्रकार साधन-सम्पन्नता का सदुपयोग भी होता है तथा दुरुपयोग भी। श्रद्धा के इन तीनों रूपों में से जनसाधारण की दृष्टि सर्वप्रथम शील-सम्बन्धिनी

श्रद्धा पर ही होनी चाहिये क्योंकि इसका संबंध प्राणीमात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से होता है।

श्रद्धा से मनुष्य के कार्यों में सुगमता आ जाती है। इससे उनके मन में एक विश्वास जाग्रत हो जाता है और व्यक्ति उपने कार्य में बढ़ने के साहस का अनुभव करता है। कभी-कभी पाखंडी लोगों की श्रद्धा प्राप्त करने के लिए कई प्रकार के स्वांग रचते हैं। ऐसे धूर्त लोगों से सचेष्ट रहना चाहिये।

श्रद्धालु श्रद्धेय में अपने अनुसार कोई परिवर्तन नहीं करना चाहता। वह किसी प्रकार के निजी लाभ की इच्छा श्रद्धेय से नहीं रखता। वह तो कर्म में ही अपना ध्यान लगाये रहता है। श्रद्धा एक ऐसा सत्कार्य अथवा सद्‌गुण है जिससे अन्य किसी प्रकार के सौदे की सम्भावना नहीं रहती। आजकल भीरुता और चापलूसी को भी श्रद्धा के नाम से चलाया जाता है पर यह श्रद्धा नहीं कही जा सकती क्योंकि श्रद्धा में याचना या चापलूसी का भाव लेशमात्र भी नहीं होता। श्रद्धा की अपेक्षा घृणा को प्रकट करने का अधिकार हमें उतना नहीं है। इसका कारण यह है कि हम यदि किसी में श्रद्धा नहीं रखते तो इससे समाज की विशेष हानि नहीं होती पर घृणा के प्रकट करने से समाज में असंतोष या दुःख व्याप्त हो सकता है।

श्रद्धा के विषय तीन हैं शील, प्रतिभा और साधन-सम्पन्नता। शुक्ल जी के अनुसार "शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रञ्जन और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की सम्भावना है।" श्रद्धा और दया में पर्याप्त भेद होता है। जो दान पण्डितों, धार्मिकों और विद्वानों को दिया जाता है वह श्रद्धा-वश दिया जाता है और अन्धों, लूलों-लंगड़ों को दिया गया दान के अन्तर्गत आता है। अतः शक्तिशाली या सदाचारी के प्रति हमारा श्रद्धा-भाव होता है तथा निर्बल-असहाय के प्रति दया भाव।

भक्ति—श्रद्धा और प्रेम के मिश्र भाव को भक्ति कहते हैं। श्रद्धा पात्र में पूज्य-बुद्धि के साथ जब उसके प्रति मन में घनिष्ठता प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होती है तथा उसकी सत्ता से साक्षात्कार करना चाहते हैं तभी भक्ति का आविर्भाव होता है। भक्ति की दशा में हम अपने जीवन-क्रम का थोड़ा बहुत अंश श्रद्धेय के लिए अर्पित करने को तत्पर रहते हैं। इसके साथ ही श्रद्धेय के जीवन-क्रम पर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों

में 'आत्म-निवेदन' कहते हैं।

श्रद्धा में हम अपने जीवन में उपार्जित किसी वस्तु को ही देने में समर्थ हो हैं—पर भक्ति में हम अपने जीवन तक को अर्पित कर देते हैं। श्रद्धा में श्रद्धा श्रद्धेय के महत्त्व का कभी भी अधिकारी नहीं हो सकता—पर भक्ति में वह भी महत्त्व की प्राप्ति कर सकना है। इतना ही नहीं अपितु दूसरे की भक्ति करके व्यक्ति तीसरे की भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जैसे राम की भक्ति करके हनुमान अन्य भक्तों की भक्ति के अधिकारी बने। इस प्रकार भक्ति के महत्त्व को प्राप्त करने के लिए भक्त अपने जीवन तथा आचरण को पवित्र और स्वच्छ रखता है, जिससे समाज का कल्याण होता है।

भक्ति में ऐसे सान्निध्य की उपलब्धि होती है जिससे हमारे महत्त्व के अनुकूल गति का विस्तार होता है, तथा प्रतिकूल गति का संकोच। भक्ति में दैन्य भाव अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है, जिसमें श्रद्धेय के महत्त्व तथा अपने लघुत्व को प्रदर्शित किया जाता है। भक्ति के आश्रय को प्राप्त करते ही कठिन से कठिन काम सरल तथा सुगम प्रतीत होने लगते हैं। महत्त्व प्राप्ति का जो उच्च पथ दुष्कर तथा श्रम-साध्य प्रतीत होता है वही भक्ति-बल प्राप्त कर सरल तथा मनोहारी हो जाता है।

मनुष्य को जो सिद्धांत नीरस तथा व्यर्थ प्रतीत होते हैं, इन सिद्धांतों को बुद्धि तो स्वीकार करती है किंतु मन उनमें नहीं रमता। इसलिए सिद्धांतों के पचड़े में न पड़कर मनुष्य को कर्म-सौंदर्य में प्रवृत्त रहना चाहिए। सद्वृत्तियों के सामीप्य ही से जीवन उच्चता को प्राप्त करता है। इस सामीप्य से यह तात्पर्य नहीं, कि मनुष्य सदैव ही किसी के साथ उठता-बैठता रहे, अपितु श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भी सामीप्य के ही अंतर्गत आते हैं।

इष्ट के साथ अनिष्ट का न होना सहज सम्भाव्य है। यदि दुःख न हो तो सुख का कोई मूल्य ही नहीं। इष्ट से हमें प्रवृत्ति का भाव प्राप्त होता है, तथा अनिष्ट से निवृत्ति का क्रम हमें ज्ञात होता है। रावण के विद्यमान होने से ही राम को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। यदि रावण न होता तो राम का इतना महत्त्व न होता। रावण के समूल नाश के लिए राम का तत्पर होना लोक-रक्षा के लिए परमावश्यक है।

स्वानुभूति के द्वारा मनुष्य परमानुभूति की धारणा कर सकता है। मनुष्य ईश्वर में अपने ही कर्मों और मनोभावों की पूर्णता को देख अपने से

श्रेष्ठ मानता है। इसी में आनंद की प्राप्ति करता है तथा उसका धर्म मार्ग जगमगाने लगता है।

श्रद्धा तथा प्रेम के संयोग से मानव मन में भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। अतः भक्ति का स्थान हृदय है, मस्तिष्क नहीं। हमारे यहाँ श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि नवधा भक्ति का विधान किया गया। हम यह पहले बता चुके हैं, कि श्रद्धा में श्रद्धेय से याचना नहीं की जाती—परन्तु भक्त सदैव ईश्वर की कृपा की चाहना करता है।

हिन्दू-धर्म में लोक कल्याण के उपदेशकों को महत्त्व नहीं दिया जाता। वह तो कर्मक्षेत्र में घुसकर अन्याय तथा अत्याचार के नाश करने वालों का महत्त्व स्वीकार करता हैं। क्षात्र-धर्म जनता के सम्पूर्ण जीवन का स्पर्श करने में समर्थ है। उसकी इस व्यापकता के कारण उसका संबंध लोक-रक्षा से रहता है। राम-कृष्ण हमारे आराध्य इसलिए हैं, क्योंकि वे क्षात्र-धर्म के प्रतीक हैं। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार "संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती—वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा।" भक्ति का मार्ग ही ऐसा मार्ग है जिसमें जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य समाहित है। क्षात्र धर्म ही एक ऐसा धर्म है किसमें कर्म-सौंदर्य झलकता रहता है। कर्म-सौंदर्य ही सर्वसाधारण के समीप रहता है। कर्म-सौंदर्य के कारण ही हमारे समाज ने राम और लक्ष्मण को इतना महत्त्व दिया है। कारण कि वे पूर्ण रूप से क्षत्रिय हैं। उनके चरित्र में समन्वय के सुन्दर दर्शन होते हैं। जहाँ वे बलवान हैं वहाँ क्षमावान भी हैं; जहाँ वह वैभवशाली हैं उन जैसा विनयी भी कोई दिखाई नहीं देता, और जहाँ वे तेजस्वी हैं वहाँ कोमलता भी कूट-कूट कर उनमें भरी है। इसीलिए समस्त संसार क्षात्र-धर्म पालन की आवश्यकता को अनुभव करता रहेगा।

———

४. करुणा

प्रश्न १०—करुणा के मनोवेग की उत्पत्ति, उसके विस्तार तथा सामाजिक जीवन में उसकी आवश्यकता पर विचारपूर्ण लेख लिखिए।

उत्तर—व्यक्ति जब दूसरे के दुःख का ज्ञान होने से स्वयं दुःख का अनुभव

करने लगता है उसी को करुणा या दया कहते हैं। करुणा दुःख के भेदों में एक है। संबंध ज्ञान से परिचय होते ही बच्चे में इस भाव की उत्पत्ति हो जाती है। इसका आरम्भ बाल्यावस्था से ही हो जाता है। स्वभावतः बच्चे अपने अनुभवों को दूसरों पर आरोपित करते हैं। पुनः कार्य-कारण के संबंध का अभ्यास हो जाने से दूसरों पर के दुःख के कारण को देखकर स्वयं दुःखी होने लगते हैं। इसी का नाम करुणा है।

मानव प्रवृत्ति के अनुसार करुणा का विपरीत भाव क्रोध है। साधारणतः जिसके प्रति क्रोध होता है हम उसको हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं—पर जिसके प्रति करुणा होती है, उसकी भलाई के लिये हम प्रयत्नशील रहते हैं तथा दुःखी होकर भी। आनन्द की श्रेणी में कोई भी शुद्ध मनोविकार ऐसा नहीं जो हानि के लिए उत्तेजित करे—वरन् करुणा दुःख की श्रेणी का ऐसा शुद्ध मनोविकार है जो भलाई के लिए उत्तेजित करता है। इसी कारण शुक्ल जी ने लोभ को आनन्द की श्रेणी में रखा है – क्योंकि जिस वस्तु के प्रति लोभ होता है मनुष्य कभी भी उसको हानि पहुंचाने का प्रयास नहीं करता। वह उसकी रक्षा करता है।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य दूसरों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होता है। परन्तु बहुधा यह देखा जाता है कि मनुष्य दूसरों के दुःख से जितना दुःखी होता है उतना दूसरों के सुख से सुखी नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि करुणा-प्राप्ति के लिए दुःख के अतिरिक्त किसी अन्य विशेषता की आवश्यकता नहीं होती परन्तु आनन्द या सुख के लिए पात्र का संबंधी या सहृदय होना आवश्यक है : करुणा में दुःख के कारण का निवारण करने की उत्तेजना होती है। स्वभावतः मनुष्य अपरिचितों की अपेक्षा अपने संबंधियों के दुःख से अधिक दुःखी होता है।

करुणा के द्वारा मनुष्य के जीवन में शील आदि उच्च भाव की स्थापना होती है। करुणा के द्वारा उन कार्यों का विधान होता है जिससे दूसरे के दुःख का निवारण हो। दूसरों के दुःख से दुःखी होना तथा उस दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयास करने के कारण करुणा एक सात्त्विक तथा शुभ भाव है। करुणा की भाँति कृपा भी दूसरों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करती है। पर कृपा में आत्मभाव छिपा रहता है। कृपा द्वारा पहुँचाया गया सुख

एक प्रकार का प्रतिकार है। करुणा से प्राप्त सुख से दुख का निराकरण होता है जो कि जीवन के लिए अतीव आवश्यक है। इसलिए करुणा की जीवन में बहुत आवश्यकता है। जिसके हृदय में करुणा होती है वह कभी भी दूसरों को दुखी नहीं करता। वह अपने शील तथा आचरण में इसका विशेष ध्यान रखता है। शीलता, सात्त्विकता तथा चरित्र-निर्माण के लिए करुणा अति आवश्यक है। आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं बुद्धि नहीं। इसलिए जीवन में सदाचार के लिए नियमों की अपेक्षा भावों का अधिक महत्त्व है। करुणा से श्रद्धा उत्पन्न होती है। अतः इन गुणों की वृद्धि के लिए करुणा को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

प्रिय के वियोग से जो दुख होता है उसमें करुणा का अंश रहता है। यह करुणा के प्रिय सुख के अनिश्चय के कारण होती है। ज्ञानियों की दृष्टि में अनिश्चित बात से सुखी या दुखी होना अज्ञान है। यही कारण है कि इस करुणा को कतिपय भारतीय भाषाओं में 'मोह' कहते हैं।

मनुष्य अपने संसार का स्वयं निर्माण करता है। वास्तव में मनुष्य का संसार तो वही लोग हैं जो उसके सम्पर्क या व्यवहार में आते हैं। वह उनसे ही प्रेम कर घनिष्ठता उत्पन्न कर लेता है। स्वनिर्मित संसार का कोई भी अंश जब उससे बिछुड़ जाता है तो स्वाभाविक रूप से उसे शोक होता है—उसके मन में करुणा तथा दया जाग्रत् होती है।

सामाजिक जीवन की उपयोगिता के लिये करुणा का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार परस्पर सहायता आत्मरक्षा के लिए की जाती है। परन्तु शुक्ल जी इस मत के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि से इसका मूल कारण करुणा है—क्योंकि साधारणतः यह देखा जाता है कि व्यावहारिक जीवन में मनुष्य निर्बल की ही रक्षा करता है बलवान की नहीं। इसी करुणा का ही एक हलका-सा रूप सहानुभूति है। यह एक वेग-रहित दुख है जो कि अपने सम्बन्धियों के थोड़े-से ही क्लेश या दुःख को देखकर उद्भूत होता है। करुणा में आदान-प्रदान की भावना नहीं होती।

शुक्ल जी स्मृति और अनुमान को भावों का सहायक स्वीकार करते हैं। मनोवेगों या प्रवृत्ति से ही मानव जीवन की सजीवता है जिसमें भावों की तत्परता का भी योग रहता है। आज की सभ्यता में जीवन की कठिनाइयों की विवशता के कारण मनुष्य में सच्चे मनोवेगों के निर्वाह में कठिनाई ही

रहती है। मनोवेगों के अनुकूल कार्य न करना उनको निर्जीव बनाना है। ऐसा करना अच्छा नहीं; व्यावहारिक जीवन में मनोवेगों का विरोध आवश्यकता, नियम और अन्याय तीन कारणों से किया जाता है। समय की आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी नियम या न्याय के वशीभूत होकर मनोवेगों के प्रतिकूल कार्य करना पड़ता है। अतः करुणा के लिए कुछ त्याग करना आवश्यक है। इसीलिए शुक्ल जी का कथन है, "करुणा सेंत का सौदा नहीं है।" करुणा-प्रदर्शन के लिए थोड़ा-बहुत त्याग अवश्य करना पड़ता है।

---

५. लज्जा और ग्लानि

प्रश्न ११—लज्जा और ग्लानि के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल जी के विचारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने सम्बन्ध में दूसरे लोगों के विचारों और धारणाओं के प्रति बड़ा सचेत रहता है। इसी से लज्जा का जन्म होता है। लज्जा की परिभाषा करते हुए शुक्ल जी का मत है—"दूसरों के चित्त में अपने विषय से बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनके स्वच्छन्दता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं।" लज्जा का स्थायी भाव यह है कि कोई हमें बुरा न समझे। इस स्थायी भाव का जिसमें जितना आधिक्य होगा उतना ही अधिक वह लज्जाशील होता है।

अपनी ही बुराई या दोषों का अनुमान जब हम स्वयं करते हैं तो उसे ग्लानि कहते हैं। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल के शब्दों में : "अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं।" ग्लानि के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होता है। ग्लानि उसी व्यक्ति को होती है, जिसमें सत्व-भाव की प्रधानता होती है जिसके संस्कार अच्छे हैं। ग्लानि के द्वारा ही मनुष्य को अपनी बुराइयों या दोषों का ज्ञान होता है तथा वह अपनी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करने लगता है। लज्जा को व्यक्ति छिपा भी सकता है—क्योंकि उसका आधार दूसरों का अनुमान है—परन्तु अपनी अपवित्र चेष्टाओं को छिपाना मनुष्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। लज्जावश हम समाज से भाग सकते हैं—पर अपने आप से तो भाग नहीं सकते। इसलिए ग्लानि वह भाव है, जिसके द्वारा हम अपनी त्रुटियों

पर विचार कर अपने जीवन को सात्त्विक बनाने का प्रयास करते हैं ; अपनी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

व्यक्ति जब अपनी बुराइयों को दूर करने का संकल्प कर लेता है तो तीन प्रकार के मनोविकारों के द्वारा ही उसकी बुराइयों की निवृत्ति हो सकती है :—

(अ) सात्विक वृत्ति वालों के लिये ग्लानि;

(आ) राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा;

(इ) तामसी वृत्ति वालों के लिए भय।

आशंका को अनिश्चियात्मिका वृत्ति कहा गया है। इसलिए इससे लज्जा ही हो सकती है—ग्लानि नहीं। लज्जा का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों की बुरी धारणा से है तथा ग्लानि का अपने भीतर की ही दूषित धारणा से। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को अपने कार्यों के अतिरिक्त अन्य मित्रों अथवा सम्बन्धियों के कर्मों से भी लज्जित होना पड़ता है। इतना ही नहीं अपितु प्रसंगवश यदि किसी बुरे कार्य में हमारा नाम ले लिया जाता है तो भी हमें लज्जित होना पड़ता है।

ग्लानि क्यों होती है—उसका क्या कारण है—इस पर विचार करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—"उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी कड़ुए फल पर। दुष्कर्म के अनेक अप्रिय फलों में एक अपमान है। अकारण अपमान से होने वाली ग्लानि अपनी सामर्थ्यहीनता या तुच्छता के कारण होती है। इसके लिए मनुष्यों को चाहिए कि वह अपने आपको इतना बलवान बना ले कि कोई उसे व्यर्थ में असम्मानित न कर सके।

संकोच लज्जा का ही एक हल्का रूप है। कार्य आरम्भ करने से पहले हमें संकोच का अनुभव होता है। संकोच को शील का प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एकमात्र आधार माना गया है। संकोच में यह आशंका बनी रहती है कि हम जो कुछ कर रहे हैं या कह रहे हैं, वह किसी को अप्रिय तो नहीं लग रहा। इसलिए मनुष्य में संकोच का होना अति आवश्यक है। पर आवश्यकता से अधिक भी संकोच नहीं होना चाहिये अन्यथा यही गुण से अवगुण बन जाता है। शुक्ल जी ने संकोच को मन का आभ्यन्तर

प्रतिबन्ध माना है। इसके दो भेद होते हैं :—

(अ) विवेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है;

(आ) मनःप्रवत्त्यात्मक, जो स्वभाववस होता है।

शुक्ल जी की दृष्टि से दूसरा भेद ही सच्चा प्रतिबन्ध है। कारण कि बुद्धि के द्वारा हम किसी प्रवृत्ति को जबर्दस्ती नहीं रोक सकते— मन के द्वारा वह अपने आप ही रुक जाती है। स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा संकोच अधिक होता है, क्योंकि वह अपनी धृष्टता का परिचय देना नहीं चाहतीं। लज्जा जब सीमा का उल्लंघन कर जाती है तो वह विलास की सामग्री बन जाती है। यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों ने मुग्धा और मुध्या नायिका की लज्जा का अतिशय वर्णन कर अपनी विलासपूण वासना की तृप्ति की। वास्तव में ऐसा करना श्लाघ्य नहीं है।

---

६. लोभ व प्रीति

प्रश्न १२—'लोभ और प्रीति' में क्या अन्तर है? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इन मनोविकारों का सूक्ष्म विवेचन कीजिये।

उत्तर—लोभ—किसी इच्छित वस्तु के अभाव में उसकी प्राप्ति या रक्षा की जो इच्छा जाग्रत होती है उसे लोभ कहते हैं। इसके सुखात्मक और दुखात्मक दो पक्ष हैं। किसी आनन्ददायक वस्तु को हम देना नहीं चाहते और उसके अभाव से या अभाव की आशंका से ही दुःखी होते हैं। लोभ सामान्य के प्रति होता है।

प्रेम—लोभ जब किसी सामान्य वस्तु के प्रति न होकर किसी विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रेम कहते हैं। जब किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति पर मुग्ध होकर किसी अन्य सुन्दर वस्तु के आने पर भी मन की ललक पहली वस्तु या व्यक्ति से नहीं हटती तो इसे प्रेम कहेंगे। साधारणतः मन की ललक जब किसी वस्तु के प्रति होती है तो उसे लोभ कहते हैं और मन की ललक जब किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रति होती है तो उसे प्रीति कहते हैं।

लोभ से सुख की प्राप्ति होती है। अतः लोभ आनंदस्वरूप है। लोभ में संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का भी योग होना आवश्यक है। इच्छा लोभ या प्रीति का आवश्यक अंग है। यह इच्छा दो प्रकार की

होती है—(१) प्राप्ति की इच्छा; (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति की इच्छा के भी दो भेद हो जाते हैं (१) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो ; (२) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत-से लोग एकसाथ रख सकते हों। प्रथम प्रकार की इच्छा प्रतिषेधात्मक होती है इसलिए उसका प्रायः विरोध होता है। यह प्रतिषेधात्मक इच्छा दोषपूर्ण है या अदोष, यह लोभ के विषय पर निर्भर है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं (१) सामान्य तथा (२) विशेष। सामान्य विषय पर अधिकांश लोगों का ध्यान रहता है। विशेष के लोभ पर बहुत कम लोग ध्यान देते हैं—जो लोग ध्यान देते भी हैं उन्हें यह खटकता नहीं और वह इसे 'रुचि' कहते हैं। लोगों की रुचि अलग-अलग होती है। किसी को बर्फी अच्छी लगती है, किसी को रसगुल्ले, किसी को रंगीन वस्तु प्रिय लगती है और किसी को सादी। यदि सबकी विशेष रुचि होती और संसार में सबकी प्रिय वस्तुए भिन्न-भिन्न होतीं तो 'लोभ' कभी भी बुरा न माना जाता -परन्तु देखा यह जाता है कि एक ही वस्तु के अनेक माँगने वाले होते हैं। एक में प्राप्त करने की इच्छा है तो दूसरा देना नहीं चाहता। दोनों एक-दूसरे को 'लोभी' कहते हैं। सामान्य विषय के लोभ में वस्तुओं का जितना आधिक्य होगा, उतना ही उसके दोष में कमी आ जाती है। जहां अन्य का त्याग अनन्य के लिए किया जाता है, वह लोभ सच्चा लोभ है, जिस प्रकार वशिष्ठ ने अपनी गाय के वदले में वहुत-सी गायें लेना स्वीकार नहीं किया था। वह लोभ बुरा होता है, जो दूसरे की सुख-शान्ति में बाधक होता है अन्यथा जिस लोभ को सभी समान रूप से चाहते हैं, वह लोभ अच्छा समझा जाता है। जन्मभूमि का प्रेम, देश-प्रेम इस प्रकार के अन्तर्गत आते हैं। स्वदेशी वस्तुओं से ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता जाता है त्यों-त्यों देश-प्रेम में भी वृद्धि होती है।

दूर न करने की इच्छा के भी दो प्रकार हैं (१) अपने अधिकार में रखने की इच्छा, (२) स्वनिरपेक्ष रक्षा या केवल बने रहने की इच्छा। प्रथम प्रकार की इच्छा कभी-कभी लोगों के विरोध का भी कारण बनती है क्योंकि उसमें दूसरों को लाभ नहीं होता। दूसरे प्रकार की इच्छा में कोई विरोध नहीं होता—क्योंकि उसमें सम्मिलित रूप से कार्य करने का ढंग रहता है। एक मन्दिर या धर्मशाला की मरम्मत होना—ताकि वह बनी रहे—ऐसी

हो इच्छा है जिसमें सबको आनन्द मिलता है। इसलिए इसका कोई भी विरोध नहीं करता। ऐसा लोभ सच्चा तथा प्रशस्त लोभ होता है।

साधारणत: देखा जाता है कि लोभ का प्रयोग धन-लोभ के लिए किया जाता है। लोभ के दो मुख्य लक्षण बताये गये हैं—असन्तोष तथा अन्य मनोवृत्तियों का दमन। प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य में धन का लोभ हो जाने से चाहे जितना धन उसके पास आ जाये वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता—उल्टा धन के प्रति उसका लोभ बढ़ता ही जाता है। धन का लोभ जब मनुष्य में मानसिक व्याधि का रूप धारण कर लेता है तो वह मनुष्य की सब उदात्त मनोवृत्तियों का नाश कर देता है। यहाँ तक कि व्यक्ति अपनी मनुष्यता से भी हाथ धो बैठता है। लोभ के आधिक्य के कारण मन की अन्य वृत्तियाँ क्रोध, ईर्ष्या, मानापमान, करुणा, दया, प्रेम, लज्जा आदि दब जाती हैं। इस प्रकार के लोभियों की निन्दा करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं, "लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है! तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है! तम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!"

प्रायः वस्तु के प्रति लोभ को लोभ तथा व्यक्ति के प्रति लोभ को प्रेम कहते हैं, पर वास्तव में हैं दोनों ही लोभ। वस्तु के प्रति लोभ तथा व्यक्ति के प्रति लोभ में बड़ा भेद है। व्यक्ति के प्रति लोभ रखने वाला लोभी व्यक्ति से मात्र बाह्य संपर्क ही नहीं रखना चाहता अपितु वह उसके अन्तर में भी स्थान प्राप्त करना चाहता है और उसे अपने अन्तर में बिठाना चाहता है। इसका कारण यह है कि दोनों के पास कोमल हृदय हैं। इन दो हृदयों के सम्मिलन से प्रेम रूपी पावन भाव की उत्पत्ति होती है। इस मेल से एक नवीन रस की उत्पत्ति होती है जिससे जीवन में सजीवता आ जाती है। यह प्रेम का महत्त्वपूर्ण रहस्य है।

प्रेम के दो पक्ष होते हैं—एकान्तिक तथा लोक-बद्ध। एकान्तिक पक्ष में प्रेमी इस कार्यक्षेत्र से दूर अपना नया संसार बसाना चाहते हैं। इस प्रकार यह दो प्राणियों का छोटा-सा संसार होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने फारसी साहित्य के प्रेमी को तथा भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को इसी के अन्तर्गत माना है। लोक-बद्ध प्रेम का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। यह

जीवन-यात्रा के नाना पथों पर अपना तेज प्रकाश फेंकता जाता है। इसमें कर्तव्य पर बल दिया जाता है। अपने समग्र जीवन का सौंदर्य प्रेमी अपने प्रिय को इसी संसार में रहकर दिखाना चाहता है। शुक्लजी के अनुसार वीरगाथाकाव्यों तथा भारतीय साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में इसी प्रकार के प्रेम का वर्णन है। राम और सीता के प्रेम को महलों में ही सीमित न रखकर संसार में प्रदर्शित किया गया है। इसी से संसार की अनेक वस्तुएँ जिनका सबंध प्रिय से होता है प्रिय लगती हैं। इसी से मनुष्य चराचर जगत से रागात्मक संबंध स्थापित करता है।

कभी-कभी प्रेम दोनों ओर समान होता है, कहीं पहले एक के हृदय में उत्पन्न होता है तथा बाद में दूसरे के और कहीं एक में ही उत्पन्न होकर रह जाता है। परन्तु प्रेम का वास्तविक स्वरूप वह होता है जहाँ तुल्यानुराग होता है। इसीलिए एकपक्षीय प्रेम को 'रस' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आचार्यों ने इसे 'रसाभास' के अंतर्गत माना है। जिस प्रेम में आत्म-तुष्टि का भाव नहीं होता वही विशुद्ध प्रेम होता है। इस अवस्था में पहुंचकर प्रेमी प्रिय से और किसी प्रकार की कामना नहीं करता। वह तो ईश्वर से केवल यही प्रार्थना करता है कि उसका प्रिय बना रहे। सूर की गोपियों में कृष्ण के प्रति ऐसे ही प्रेम के दर्शन होते हैं।

रूप-गुण के अतिरिक्त साहचर्य के कारण भी प्रेम उत्पन्न हो जाता है। देश-प्रेम इसी साहचर्यगत प्रेम का ही प्रमाण है। इस प्रेम की यह विशेषता है कि साहचर्य काल में उसकी इतनी तीव्रता प्रतीत नहीं होती जितनी कि वियोग के क्षणों में। भाई-बहन, माता-पुत्र आदि का प्रेम इसी कोटि का है। जो प्रेम रूप-गुण के कारण उत्पन्न होता है वह भी आगे चलकर साहचर्यजन्य प्रेम का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए साहचर्य-जनित प्रेम के महत्त्व का सदैव स्मरण रखना चाहिए।

लोभ और प्रेम की यह एक विलक्षणता है कि इसमें हर्ष की पुलक भी रहती है और दीर्घ विश्वास भी। इसमें मनुष्य अपने भावों की अभिव्यंजना रोकर भी करता है और प्रसन्न होकर भी। इसके अंतर्गत आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के समस्त भाव आ जाते हैं। आचार्य शुक्ल के मतानुसार "कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिलकुल दूसरे प्रकार की।" इसी

कारण लोभ या प्रेम का मनुष्य की मनोवृत्तियों में इतना विस्तार तथा शासन देखकर साहित्यकारों ने शृंगार को 'रसराज' की संज्ञा प्रदान की है।

---

७. घृणा

प्रश्न १३—घृणा नाम के मनोवेग का सविस्तार विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्ल के विचार को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर विश्व के सम्पर्क में आकर मनुष्य कुछ वस्तुओं में रुचि लेता है तथा कुछ में अरुचि प्रकट करता है। घृणा का सम्बंध अरुचिकर वस्तुओं से है। शुक्ल जी के अनुसार "अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा रखने वाला जो दुःख होता है उसे घृणा कहते हैं।" घृणा के विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया है—स्थूल और मानसिक स्थूल विषयों का सम्बंध आँख, नाक और कान आदि तीन इंद्रियों से है। मानसिक विषयों की घृणा की उत्पत्ति मन में ही कुछ अपनी क्रियाओं के आरोप से तथा और कुछ शिक्षा से प्राप्त आदर्शों के प्रतिकूल विषयों की उपस्थिति से होती है।

प्रतिकूल विषयों के उपस्थित होने पर व्यक्ति या तो उन्हें दूर करने का प्रयास करता है या अपने मन के व्यापारों को उस ओर से बंद करने का प्रयत्न करता है। घृणा और क्रोध के अंतर को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। क्रोध का मूल विषय हानि पहुँचाना है। इसीलिए क्रोधी अपने क्रोध की वस्तु का समूल नाश करना चाहता है। पर घृणा में मनुष्य मन के व्यापार में संकोचमात्र उत्पन्न करता है। इसमें उतना उद्वेग, उग्रता नहीं होती। घृणा का विषय दूसरों को दुःख या हानि पहुँचाने का नहीं होता—पर क्रोध में पर-पीड़न का भाव रहता है। अत्याचारी पर क्रोध आता है और व्यभिचारी से घृणा होती है। इसीलिए शुक्ल जी ने क्रोध को 'प्रवृत्ति' का मार्ग और घृणा को 'निवृत्ति' का मार्ग कहा है। क्रोध में व्यक्ति का निरोध होता है तथा घृणा में किसी सामाजिक लक्ष्य या आदर्श पर विरोध प्रकट किया जाता है। घृणा के विपरीत भाव को वैर करते हैं जिसमें मनुष्यों के आदर्शों का विरोध किया जाता है। घृणा और वैर के इस अंतर को देखकर आज-कल लोग क्रोध और वैर के भाव को छिपाकर घृणा से ही काम निकाल

लेते हैं।

घृणा के स्थूल विषय सभी मनुष्यों में लगभग समान रहते हैं। सौंदर्य, भद्दापन या सुगंध आदि के विषय में बहुधा समानता ही रहती है। यदि कहीं इस स्थूल घृणा में मतभेद दिखाई देता भी है तो वह केवल मनुष्य के अनुबंध-ज्ञान के कारण ही होता है। किसी की दृष्टि कारण पर जाती है तथा किसी की परिणाम पर। घृणा के मूल विषय जहाँ हमारे सम्मुख आते हैं, वहाँ कोई मतभेद उत्पन्न नहीं होता—पर जहाँ विषय सम्मुख न आकर केवल उनके अनुमानित लक्षण सामने आते हैं जो कि अन्य विषयों के भी लक्षण हो सकते हैं वहीं मतभेद उत्पन्न हो सकता है। यह मतभेद इसलिए होता है क्योंकि अनेक वस्तुओं के बीच सीमाएँ स्थिर नहीं होतीं। एक ही वस्तु में कोई श्रद्धा रखता है, तथा वही वस्तु कुछ लोगों के लिए अश्रद्धा का कारण बनती है। यह मतभेद अस्थिरता के अतिरिक्त शिक्षा और संस्कारों के कारण भी हो जाता है। एक ही व्यक्ति अपने विशेष गुणों के कारण शिष्ट समझा जाता है तथा उसी को कुछ लोग मक्कार भी समझने लगते हैं।

मनोविकार दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रेष्य और (२) अप्रेष्य। प्रेष्य मनोविकार होते हैं जो एक के हृदय में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो जाते हैं। क्रोध, घृणा, प्रेमादि इसी प्रकार के मनोविकार हैं। जैसे क्रोध को लें तो यदि एक व्यक्ति क्रोध करता है, तो दूसरा भी पहले के प्रति क्रोध कर सकता है। अप्रेष्य मनोविकार वे होते हैं जो जिसके प्रति होते हैं जिसके मन में दूसरे प्रकार के भावों का सृजन करते हैं। भय, दया, ईर्ष्या आदि ऐसे ही मनोविकार हैं। जैसे जिससे भय होता है वह दया करने लगता है, जिससे ईर्ष्या होती है वह घृणा करता है। प्रेष्य मनोविकारों में एक विशेष गुण होता है। सजातीय संयोग को प्राप्त कर यह बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ते हैं। जैसे एक के प्रेम-भाव को देखकर दूसरे के मन में प्रेम उत्पन्न होता है तथा दूसरे के प्रेम को बढ़ता देखकर पहले का प्रेम और बढ़ जाता है।

यदि मानसिक प्रवृत्ति पर दृष्टि रखकर देखें तो दोनों की प्रवृत्ति एक-सी जान पड़ती है। दोनों ही मनोवेग हमें अपने विषयों से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं। अन्तर यह है कि घृणा का दुःख स्थायी होता है तथा भय में दुःख बढ़ने की आशंका रहती है। भय दुःख की एक छाया है जिसे हम अपने चारों

और अनुमानत करते रहते हैं। मनुष्य किसी वस्तु से भय खाकर सदैव का अनुमार्न किया करता है इसीलिए शुक्ल जी ने भय को 'अतिरिक्त क की संज्ञा दी है। सामाजिक सभ्यता और शिष्टता के आवरण में लोग अ घृणा को उदासीनता के नाम से छिपाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु दोनों स्पष्ट अन्तर है। जिन बातों से मनुष्य को घृणा होती है उनकी वह पुनराव नहीं चाहता। व्यक्ति उनका विरोध करता है। परन्तु उदासीनता में व्य विषयों की उपेक्षा कर जाता है। इसमें मनुष्य यह चिन्ता नहीं करता कि कार्य हो रहा है या नहीं हो रहा। विषय का होना या न होना उसकी दृष्टि महत्त्व की वस्तु नहीं है।

ईर्ष्या

प्रश्न १४—ईर्ष्या नाम के मनोवेग को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अन स्पष्ट कीजिए !

उत्तर – व्यक्ति में जिस प्रकार दूसरे का दुःख देखकर करुणा उत्पन्न हो है वैसे ही दूसरे की भलाई या सुख को देखकर जो दुःख का अनुभव होता उसे ईर्ष्या कहते हैं। ईर्ष्या, आलस्य, अभिमान और नैराश्य के योग से उद्भ होती है। इसीलिए शुक्ल जी ने ईर्ष्या को 'संकर भाव' कहा है। यह भा बच्चों में बहुत देर से दृष्टिगत होता है और पशुओं में इसका सर्वथा अभा होता है। ईर्ष्या में व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए उत्तेजित दुःख क तीन रूपों में व्यक्त करता है :—

१. हाय ! वस्तु हमारे पास होती।

२. अमुक वस्तु उसके पास न होकर हमार पास होती तो क्या अच्छा बात थी।

३. वह वस्तु उसके अधिकार में न रहती और चाहे जहाँ चला जाती।

इस प्रकार ईर्ष्या में व्यक्ति की ओर लक्ष्य क्रमशः अधिक तथा वस्तु की ओर कम हो जाता है। व्यक्ति और वस्तु के हेतु ही ईर्ष्या और स्पर्धा में अन्तर हो जाता है। ईर्ष्या का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है और स्पर्धा का वस्तु से।

सामाजिक जीवन में स्पर्धा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। कारण कि स्पर्धा में मनुष्य अपनी त्रुटियों पर जब दृष्टिपात करता है और दूसरों के सुख, ऐश्वर्य और गुण को देखता है तो उसे मन में बड़ा दुःख होता है—वह अपनी

त्रुटियों को दूर करता का प्रयास करते है। ईर्ष्या में मनुष्य दूसरे के सुख, गुण तथा सम्पन्नता को देख कर प्रयत्नशील नहीं बनता; वह केवल दुःख का ही अनुभव करके रह जाता है। जहाँ स्पर्धा से गुणी तथा प्रतिष्ठित लोगों की संख्या में वृद्धि होती है वहाँ ईर्ष्या से कमी होती है। इसलिये स्पर्धा समाज के लिये बड़ा उपयोगी भाव है।

ईर्ष्या जब उग्र रूप में उपस्थित होकर प्रत्येक दृष्टि से मनुष्य का हानि पहुँचाना चाहती है तभी यह द्वेष के रूप में परिणत हो जाती है। वैर और द्वेष में भी भेद है। वैर भाव मनुष्य में तब उत्पन्न होता है जब वह अपनी हानि का बदला लेना चाहता है। द्वेष में मनुष्य अपने हानि-लाभ का कोई विचार नहीं करता। वस्तुतः ईर्ष्या एक अनावश्यक भाव है। इसलिये उसे महत्त्वपूर्ण मूल मनोविकारों में स्थान नहीं दिया जाता।

ईर्ष्या सर्व-सामान्य से न होकर व्यक्ति-विशेष से होती है। यह भाव उन व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है जिनको हम अपने समकक्ष देखते हैं। जहाँ व्यक्ति अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आकर दूसरों की सहायता तथा सहानुभुति को प्राप्त करता है, वहाँ कभी-कभी वह उनकी ईर्ष्या या द्वेष का भी कारण बनता है। ईर्ष्या में ईष्यालु और ईर्ष्या के पात्र के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता रहती है। समाज को प्रभावित करने के लिए ही इर्ष्या की जाती है। सामाजिक जीवन की कृत्रिमता को दृष्टि में रखते हुए ईर्ष्या के भाव की उत्पत्ति होती है। यद्यपि दूसरों की उन्नति या लाभ से हमारी कोई व्यक्तिगत हानि नहीं होती, तथापि सामाजिक जीवन में हमारे समकक्ष होने के कारण हम उससे ईर्ष्या करते हैं।

ईर्ष्या में एक विचित्र बात यह है कि वह केवल अप्राप्त वस्तु के प्रति ही नहीं होती अपितु प्राप्त वस्तु के प्रति भी होती है। हमारी यही इच्छा होती है कि वह वस्तु दूसरे के पास न हो। समाज में जब व्यक्ति सदैव आनन्द के लिए व्याकुल हो जाता है तो यह उसका दुर्व्यसन कहलाता है। इस भाव को शुक्ल जी ने 'अहंकार' कहा है। ईर्ष्या अहंकार के साथ-साथ ही रहती है क्योंकि मनुष्य की यह इच्छा रहती है, कि वह दूसरों से श्रेष्ठ माना जाये। मनुष्य के भाव से दूसरों को भी ईर्ष्या की प्रेरणा मिलती है। ईर्ष्या करने वालों में दो दशाएँ पाई जाती हैं—सम्पन्न तथा असम्पन्न। सम्पन्न दशा वह है जिसमें जो वस्तु हमारे पास है—यदि उसे दूसरा भी प्राप्त

कर लेता है तो हमें दुःख होता है। असम्पन्न दशा में हम यदि दूसरे को अपने से बढ़ा हुआ देखते हैं तो हमें दुःख होता है।

ईर्ष्या में कभी-कभी क्रोध का भाव मिला हुआ होने के कारण मनुष्य कई बार क्रुद्ध वचनों का प्रयोग भी करता है। क्रोध को हम ईर्ष्या का संचारीभाव कह सकते हैं—क्योंकि इसका आभास समय-समय पर व्यक्ति को होता है। शुक्ल जी ऐसे क्रोध को जड़ क्रोध कहते हैं—कारण कि इसमें व्यक्ति जिस पर क्रोध करता है, उसके मानसिक उद्देश्य पर दृष्टि नहीं डालता—अर्थात् व्यक्ति यह नहीं सोचता कि जिस पर क्रोध करता है, उसने कौन-सा ऐसा कार्य किया है जिससे हानि या दुःख की सम्भावना हो सकती है।

ईर्ष्या से उत्पन्न दुःख का कोई परिणाम नहीं होता क्योंकि ईर्ष्या के मूल में आलस्य तथा नैराश्य होते हैं। इससे प्रभावशाली शक्ति का अभाव होता है। आलस्य और निराशा के कारण व्यक्ति हाथ पर हाथ रख कर बैठा रहता है जिसके कारण ईर्ष्या में क्रोध जैसा वेग नहीं आ पाता। इस लिये मनुष्य को ईर्ष्या का विकार दूर करना चाहिये। इसके लिये मनुष्य को सदैव प्रयत्नशील और आशावादी होना चाहिए। ईर्ष्या एक अप्रेष्य मनोवेग है—इसलिए इसके बदले में घृणा और क्रोध मिलते हैं—जो कि ईर्ष्या से भी गये-बीते हैं।

ईर्ष्या अतीव लज्जावती वृत्ति को कहते हैं। यह इतनी लज्जाशील है कि धारण करने वाले के भी सम्मुख नहीं होती। अन्य भावों के लक्षणों से उनका अनुमान होता है—पर ईर्ष्या के लक्षण प्रतीत नहीं होते। इसके अति-रिक्त यह ऐसी कुत्सित वृत्ति है कि व्यक्ति इसे एकान्त में भी स्वीकार नहीं कर सकता तथा समाज में भी स्वीकार नहीं करता। मनुष्य अपनी सभी त्रुटियों, बुराइयों को मान लेता है पर ईर्ष्या को कभी स्वीकार नहीं करता, इसलिए मनुष्य ईर्ष्या को छिपाने के लिए अन्य मनोवेगों के अन्तर्गत इसे दर्शाता है।

———

९ भय

प्रश्न १५—भय नामक मनोवेग के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों को संक्षिप्त रूप से लिखिए।

उत्तर—निकट भविष्य में आने वाली आपत्ति की भावना या दुःख की

प्रतीति से जो आवेगपूर्ण या स्तम्भ कारक मनोविकार होता है - भय कहलाता है। भय के लिए कारण के निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं होती मात्र यह जानना कि दुख या हानि होगी भय की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त है। क्रोध में दुःख का कारण जानना जरूरी होता है। जब मनुष्य को यह ज्ञात हो जाता है कि किसीने जान-बूझकर उसे दुःख दिया है, तो उसे क्रोध आ जाता है।

भय का विषय दो रूपों में सम्मुख आता है – वे हैं साध्य और असाध्य। साध्य विषय में प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सकता है—पर असाध्य में प्रयत्न असफल रहता है। विषय का साध्य या असाध्य होना मनुष्य की परिस्थिति पर तो निर्भर होता है—पर व्यक्ति की प्रकृति पर भी आधृत रहता है। साहसी पुरुष कठिन परिस्थिति में भी भय से बचने के उपाय निकाल लेता हैं। यही भय जब स्वभावगत हो जाता है, तो कायरता का रूप धारण कर लेता है जो कि पुरुष के लिए बहुत बड़े दोष का कारण बनता है। इससे मनुष्य विश्वास खो बैठता है और निर्बल बन जाता है। सामाजिक जीवन में मनुष्य की कायरता या भीरुता उसके अनेक कार्यों से प्रतीत होती है। जैसे बहुत से व्यक्ति व्यापार में इसलिए हाथ नहीं डालते क्योंकि उनमें अर्थ-हानि का भय होता है। बहुत से व्यक्ति शास्त्रार्थ में इसलिये भाग नहीं लेते, क्योंकि उनको पराजय का भय लगा रहता है। कतिपय व्यक्ति धर्म-भीरुता को प्रशंसनीय कहते हैं—पर शुक्ल जी इसे भी प्रशंसा के योग्य नहीं मानते। वह धर्म से कटने वालों की अपेक्षा धर्म में आकृष्ट होने वालों को प्रशंसा के योग्य समझते हैं। जो व्यक्ति किसी कार्य में बुराई को देख उससे पीछे हटते हैं, तथा उसके करने में अधर्म स्वीकार करते हैं—उनकी अपेक्षा वे व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, जो कि बुराई को अच्छा ही नहीं समझते।

यदि दुःख का कारण भय से प्रभावित रहे तो उससे क्रोध की निवृत्ति कुछ समय या बहुत समय के लिये होती है। यह अवस्था भय में नहीं आ पाती। जिन अज्ञानियों में भाव बहुत समय के लिये विद्यमान रहते हैं उनमें भय का फल भय के संचार तक ही रहता है। ज्यों ही व्यक्ति भय को भूल जाता है, उसे किसी दुर्गम समस्या का मुख देखना पड़ता है। भय के आभास से वह उससे बचने का प्रयास करता है और जब भय का आभास नहीं रहता तो हो सकता है वह कोई बड़ी चोट खा बैठे।

जंगली तथा असभ्य जातियों में भय होता है। इन असभ्य जातियों में भय से लाभ बहुत हो सकता है—क्योंकि ये जिनसे भयभीत होती हैं, उनका बड़ा सम्मान और स्तुति करती हैं। आवश्यकता से अधिक भय तथा किसी से भयभीत होकर उसका आदर-सम्मान करना असभ्यता के लक्षण हैं।

छोटे-छोटे बच्चों में भय अधिक होता है—क्योंकि उनमें भाव अधिक समय तक नहीं टिकते और दुःख के निवारण का ज्ञान या शक्ति उनमें नहीं होती। इसी कारण वह अपरिचित व्यक्तियों को देखकर दूर भागते हैं। संसार में प्रविष्ट होकर प्राणी अपने सम्मुख दुःख से परिपूर्ण संसार को देखता है। वह अपने ज्ञान-बल तथा बाहुबल के आधार पर इस संसार को सुखमय मानता है। सामान्य रूप से जीवन में मनुष्य को दुख और कष्ट ही दृष्टिगत होते हैं। इसलिये सुख और आनन्द उसकी दृष्टि से उल्टे भाव हैं। अतः वह इन विषयों को सामान्य बनाने का साहस नहीं करता। धीरे-धीरे परिचितों के अभ्यास से उसे यह ज्ञान होता है, कि वे उसे कष्ट या दुःख नहीं देंगे। पर अपरिचितों से वह फिर भी भयभीत रहता है। जीवन में अनुभव के द्वारा ज्ञान, हृदय और शारीरिक बल से वह दुख की छाया को दूर करता है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हो रहा है, त्यों-त्यों मानव के कई भय भी दूर होते जा रहे हैं। वर्तमान युग में मनुष्य केवल मनुष्य से ही भयभीत रहता है, जो कि बड़ा जटिल और गूढ़ रूप धारण कर चुका है।

अनेक-रूपता मानव की प्रकृति में सदैव से रही है। एक व्यक्ति में अन्य व्यक्ति के लिए सुखद और दुखद दोनों प्रकार के भाव आरम्भ से मिलते आये हैं। पर व्यक्तिगत रूप से इतना अन्तर नहीं आता जितना कि समष्टि रूप से। संघ के विषय में शुक्ल जी लिखते हैं "संघ एक शक्ति है, जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है।" इसको स्पष्ट करने के लिये शुक्ल जी ने राजनीतिक उदाहरण देकर समझाया है कि किस प्रकार संघ की शक्ति से एक देश या जाति दूसरे देश या जाति के लिए भय का कारण बनी रही। आजकल की स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से तो उतना भयभीत नहीं है जितना कि प्राचीनकाल में था, तथापि एक जाति दूसरी जाति से तथा एक देश दूसरे देश से भयभीत अवश्य रहता है।

जिस प्रकार विश्व में मनुष्य को सुखी रहने का अधिकार है, उसी प्रकार

वह भय से भी मुक्त होना चाहता है। पर इस निर्भयता के लिए दो बातों की आवश्यकता रहती है। एक तो यह कि हम किसी को कष्ट या दु:ख न दें, तथा दूसरी यह कि दूसरे हमें कष्ट पहुँचाने का साहस न कर सकें। पहली प्रकार की भावना में शील होता है तथा दूसरी में शक्ति का प्राधान्य होता है। परन्तु यह भी देखने में आता है, कि इस संसार में किसी को न डराने से ही डरने की संभावना दूर नहीं हो पाती। कई अवसरों पर ऐसा देखा गया है कि सज्जन और शीलवान पुरुषों को दुर्जन पीड़ित किया करते हैं।

---

१०. क्रोध

प्रश्न १६—क्रोध की सामाजिक उपयोगिता का विवेचन करते हुए क्रोध, वैर, अमर्ष और चिड़चिड़ाहट के भेद को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"क्रोध दु:ख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।" साक्षात्कार के अवसर पर उसके कारण के सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। जब तक दु:ख का कारण स्पष्ट नहीं होता, तब तक क्रोध उत्पन्न नहीं होता। दु:ख का कारण प्रतीत हो जाने से इस मनोविकार का प्रभाव बहुत जल्दी होता है।

समाज में क्रोध की बहुत आवश्यकता रहती है। यदि मनुष्य के मन में इस भाव की उत्पत्ति न हो तो व्यक्ति अपने को दूसरों के कष्टों से बचाने का कोई और मार्ग ही नहीं अपना सकता। अतः उसे सदैव कष्टों को सहन करना पड़ेगा। साधारणतः क्रोध व्यावहारिक जीवन में प्रतिकार के रूप में दृष्टिगत होता है। प्रतिकार रूप वाले क्रोध में पुनः दु:ख प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती, पर फिर भी मनुष्य को दु:ख दिया जाता है। जहाँ दु:ख प्राप्ति स्थायी रूप से विद्यमान रहती है, वहाँ स्वरक्षा वाला भाव क्रोध में परिणत हो जाता है

हम पहले कह चुके हैं कि क्रोध में चेतन कारण का साक्षात्कार होता है। जहाँ इस ज्ञान या साक्षात्कार का प्रभाव रहता है, वहाँ क्रोध धोखा दे जाता है। क्रोध में एक अन्धायन होता है—क्योंकि क्रोध करने वाला उसी ओर देखता है जिस ओर से क्रोध आता है, अपनी ओर नहीं। क्रुद्ध व्यक्ति को वह विचार नहीं आता कि उसने भी कोई भूल की होगी। क्रोध में रक्षा का भाव रहता है। यदि व्यक्ति क्रोध के मूल स्रोत को न जान कर—उसका पूरा-पूरा

अनुमान न लगाकर कोई कार्य करता है तो उसमें उसे हानि होती हैं। इसलि यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि क्रोध से तभी लाभ हो सकता है जबकि उसकी आवश्यक मात्रा तथा उपयुक्त स्थिति को पूर्णरूप से जा लिया जाये।

क्रोध की उग्र चेष्टाओं से अन्य किसी को हानि पहुँचाने से पूर्व उसे भय भीत करने का लक्ष्य विद्यमान रहता है। यदि व्यक्ति भयभीत होकर क्षमा प्रार्थना के लिए तत्पर हो जाता है तो क्रोध के स्थान पर क्षमा करने का भाव उत्पन्न होता है। यदि कोई व्यक्ति गर्व दिखाकर दूसरे को दुःख देता है तो वहाँ क्रोध का लक्ष्य हानि न पहुँचाना होकर उसका गर्व भंग करना हो जाता है। जब क्रोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि बिना कारण के ज्ञान के ही क्रोध उद्भूत हो जाए तो ऐसा क्रोध 'अपरिष्कृत' क्रोध कहलाता है। क्रोध मानव के सभी मनोविकारों से फुर्तीला भाव है, इसलिये यह अन्य मनोभावों का सहायक बनकर उनकी तुष्टि करता है। यह कभी दया का साथ देने लगता है और कभी घृणा का। क्रोध मानव-शांति के नाश करने वाला भाव है। एक व्यक्ति के क्रोध से दूसरे का क्रोध बढ़ता है। इसी कारण धर्म, नीति और शिष्टाचार सब में क्रोध के दमन पर बल दिया गया है। सभ्यता के व्यवहार में क्रोध को दबाने का प्रयास किया जाता है। क्रोध को दबाने का अभ्यास जितना ठगों और स्वार्थियों में होता है, लगभग उसी मात्रा में सिद्धों और साधकों में भी देखा जाता है।

क्रोध दो प्रकार के दुख से उत्पन्न होता है—अपने दुःख से और दूसरों के दुख से। अपने दुःख से अपने दुख के लिये क्रोध को त्यागना चाहिए। पराये दुःख से जिस क्रोध की उत्पत्ति होती है उसे बुराई की सीमा से बाहर समझा जाता है। जितना ही अपने सम्पर्क से क्रोध द्वारा उत्पन्न दुःख को दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा उतना ही उसका सुन्दर रूप हमारे सम्मुख आयेगा : इसी प्रकार का क्रोध काव्य में पाया जाता है— जिससे उसके सुन्दरतम रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। इस क्रोध का आधार करुणा होती है। शुक्ल जी के मतानुसार इसी क्रोध के आधार पर बाल्मीकि ने अपने महाकाव्य का निर्माण किया—जिसमें क्रोध का सौंदर्य महाकाव्य का सौंदर्य बन गया। बाल्मीकि के इस क्रोध में प्राणीमात्र के लिये दया छिपी है। राम के क्रोध में समस्त जगत का क्षोभ विद्यमान है।

शुक्ल जी ने दण्ड को कोप का विधान स्वीकार किया है। राजदण्ड—राजकोप, लोककोप और धर्मकोप में परस्पर सम्बन्ध रहता है। राजदण्ड राजकोप का परिणाम है और लोककोप धर्मकोप के कारण ही होता है।

मनुष्य का यह स्वभाव है कि जो उसे दुःख देते हैं वह उनके प्रति क्रोध रखता है। यदि क्रोध स्थायी रूप से उनके मन में विद्यमान रहता है तो वह वैर का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण शुक्ल जी ने वैर के लिए लिखा है—"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" वैर स्थायी रूप से रहने के कारण उतना तीव्र नहीं होता, जितना कि क्रोध। क्रोध और वैर का यह अन्तर काल पर आधृत होता है। तत्क्षण यदि दुःख का प्रतिकार हो जाता है तो यह क्रोध से होता है और अगर समय बीत जाने पर भी दुःख देने की भावना बनी रहती है तो यह कार्य वैर द्वारा सम्पन्न होता है।

मानसिक दुर्बलता के कारण क्रोध का एक हल्का-सा रूप दृष्टिगोचर होता है जिसे चिड़चिड़ाहट कहते हैं। इसी कारण इस भाव को बहुधा हम रोगियों और वृद्ध व्यक्तियों में पाते हैं। इसकी व्यंजना केवल शब्दों तक ही सीमित रहती है। किसी बात का बुरा लगना या क्षोभ के कारण जिस भाव का अनुभव होता है उसे अमर्ष कहते हैं। साधारणतः यह क्रोध से पूर्व हुआ करता है। क्रोध और अमर्ष में यह अन्तर है कि क्रोध में व्यक्ति दुःख देने वाले को हानि पहुँचाना चाहता है और अमर्ष व्यक्ति को दुःख की बात पर होता है और तत्पश्चात् क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार शुक्ल जी ने क्रोध, वैर और अमर्ष के भेद को स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख रखा है।

———

११. कविता क्या है !

प्रश्न १९—कविता के सम्बन्ध में शुक्ल जी के क्या विचार हैं ? चिन्तामणि के 'कविता क्या है' निबन्ध के आधार पर शुक्ल जी द्वारा लिए विभिन्न उपकरणों के आधार पर संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर—शुक्ल जी ने अपने इस सैद्धान्तिक निबन्ध में अपनी रस-दृष्टि से काव्य की परिभाषा, लक्षण, प्रयोजन, लक्ष्य, उपादान तत्त्व, काव्य की प्रक्रिया दृष्टि ; स्वरूप, काव्य की कसौटी, विशेषताएँ तथा महत्त्व आदि पर विचार किया है।

कविता की परिभाषा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त मानव संसार में संघर्ष करता, विचारों, भावों का विनिमय करता, सांसारिक संकुचित भावनाओं से बद्ध जीवन व्यतीत करता, जब संकुचित क्षेत्र त्याग कर विचार और भावनाओं का विस्तार करता, सुख-दुःख, हानि-लाभ, अपने-पराये का मोह-ममता तथा अपनी पृथक् सत्ता की भावना को पूर्ण विस्मृत कर विशुद्ध अनुभूति मात्र अर्थात् चैतन्य मात्र रह जाता है तब यह 'भुक्त हृदय' हो जाता है। शुक्ल जी के अनुसार यह दशा 'रस दशा' कहलाती है। शुक्ल जी लिखते हैं, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था "ज्ञान" दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"

यह 'रस दशा' मनुष्य को संकुचित मण्डल से निकाल कर सर्वसामान्य संसार के भावों की भूमि पर ला देती है। इस समय मनुष्य अपना अस्तित्व संसार के अस्तित्त्व में लीन कर देता है। दूसरों के दुःख-सुख, चिन्ता, वह अपने ही समझने लगता है तथा उसमें जगत् की विभिन्न गतियों के हृदयस्पर्शी स्वरूप का साक्षात्कार होकर शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इससे मनोभावों का परिष्कार होकर शेष सृष्टि के साथ रागात्मक संबन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। अनेकरूपत्मक जगत् की भाँति हमारे अनेक भावात्मक हृदय के इन अनेक भावों का परिष्कार, जगत् के विभिन्न रूपों के साथ होने पर ही समझा जा सकता है। आदिकाल से प्राणी इनके साथ संबन्ध स्थापित रखता लुब्ध-क्षुब्ध होता आ रहा है तथा इन जगत् के भावों का हमारे भावों से मूल या सीधा संबंध है। काव्य प्रयोजन के लिए हम इन्हें मूल रूप या मूल व्यापार कहते हैं। संसार के स्थूलतम और गूढ़तम तथ्यों को भाव या विषय का आलंबन बनाने के लिए इन मूल रूपों या व्यापारों में परिवर्तित करना पड़ता है, यह काव्यगत दृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्रकृति के कुछ रूपों तथा व्यापारों, लघुतम तथा दीर्घतम पदार्थों का मनुष्य जाति के भावों से अत्यन्त प्राचीन संबंध है जैसे वन, पर्वत, नदी वृक्ष, लता, पशु-पक्षी, आकाश समुद्र, खेत। इन विशेष रूपों या व्यापारों से जैसा रस परिपाक संभव है वैसा कृत्रिम रूपों या आधुनिक वैज्ञानिक पदार्थों द्वारा नहीं। मूल रूपों का विधान, जगत् के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तथ्यों को भावों का आलंबन बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक है।

सभ्यता के आवरण और कविता—सभ्यता के विकास के साथ जीवन जटिलतम होता गया, मूलरूप सभ्यता से आच्छन्न हो गए तथा बुद्धि ने इनमें परिवर्तन कर दिया तथा नवीन भावों का सृजन और प्राचीन भावों का रूप-घटने-बढ़ने लगा। रक्षा का भाव अपनी और सन्तति रक्षा तक सीमित न रहकर धन मान, अधिकार, प्रभुत्व तक बढ़ गया। साथ ही रक्षा के उपाय भी परिवर्तित हो गये।

इतना परिवर्तन तथा जटिलता मूल रूपों में आने पर भी मनुष्य का संबध उससे बना रहेगा। भाव के विषय का किंचित् मात्र परिवर्तित हो जाना ही शुक्ल जी सभ्यता मानते हैं। यद्यपि काव्य दृष्टि से कोई भेद नहीं है। परन्तु यह आवृत रूप उतना मर्मस्पर्शी नहीं होगा। इसी आवरण को दूर करना कवि कर्म का एक मुख्य अंग है तथा सभ्यता के विकास के साथ कवि कर्म बढ़ता जाएगा। हमारी वृत्तियों पर जैसे-जैसे यह आवरण चढ़ेगा त्यों-त्यों रागात्मक संबंध की अधिक आवश्यकता पड़ेगी तथा कवि कर्म कठिन होता जाएगा। किसी वस्तु का जब मूल शुद्ध रूप आएगा तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा क्योंकि इसमें मर्मस्पर्श का तत्त्व आ जाएगा। इस प्रकार काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर हैं। भाव के सुख और दुःख का प्रत्यक्ष मूर्त चित्रण ही हमारे हृदय में मनोवेग उत्पन्न कर सकता है क्योंकि अर्थ ग्रहण से ही काम नहीं चलता, काव्य में बिंबग्रहण अपेक्षित है और मूर्त, गोचर निर्दिष्ट रूप का ही हो सकता है।

कविता और सृष्टि प्रसार—शुक्ल जी भी काव्य का आलम्बन प्राचीन (आदिम)रूप ही रखना चाहते थे। उन्होंने कविता क्षेत्र संकुचित न रखकर कविता द्वारा मनुष्य की अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति का मिलन करवाकर भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयत्न करवाया है। सृष्टि से अपने को विलग करने पर मनुष्य में मनुष्यता नहीं रहेगी। यदि शेष सृष्टि के नित्य-प्रति के विभिन्न व्यापारों ने उसको प्रभावित नहीं किया तो उसके जीवन में रह ही क्या गया।

काव्यक्षेत्र बड़ा ही व्यापक है, शुक्ल जी ने तीन विस्तृत क्षेत्रों में उसे विभाजित किया है—१. नर क्षेत्र, २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि, ३. समस्त चराचर।

१. **नर क्षेत्र**—यही कविता का सर्वाधिक व्यापक क्षेत्र है। मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्य इसी में लिखे गए हैं। इसमें मानव की बाह्य तथा अन्त:प्रकृति के सम्बन्ध ज्ञात होते हैं, परन्तु इसमें कहीं-कहीं अन्य दो क्षेत्र भी मिल जाते हैं, इनमें बाह्य प्रकृति उद्दीपन रूप या नाम गिनाने तक ही हैं। शृंगार वर्णन में प्रस्तुत किए गए प्राकृतिक दृश्यों के प्रति नायक नायिका वाला रति-भाव नहीं होता। यह केवल नर सम्बन्धी भावना को तीव्र करते हैं

२. **मनुष्येतर बाह्य सृष्टि**—इस क्षेत्र में प्रकृति आलम्बन रूप में अधिकतर संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों में है। वर्णित वस्तुओं को मन दो रूपों में ग्रहण करता है—१. बिम्ब ग्रहण २. अर्थ ग्रहण। किसी वस्तु का नाम लेने पर उसका रूप हमारे सम्मुख उसके रंग, रूप, अंग सहित भी आ सकता है और केवल उसके अर्थ-रूप में भी। बिंव (रंग-रूप अंग) ग्रहण के लिए कवि की सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। कालिदास का मेघदूत मनुष्येतर बाह्य प्रकृति वर्णन का सुन्दर उदाहरण है जिसमें एक भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम दृष्टि। विभिन्न रूपों में प्रकृति हमारे सम्मुख आती है कहीं उग्र कहीं कराल, कहीं भव्य रूपों में। कवि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना के कारण सभी रूपों में अनुराग रखता है। जो प्रकृति के सुन्दर भव्य रूप में ही अनुराग रखते हैं, वह विषयी या भोगलिप्सु, तमाशबीन हैं, भावुक या सहृदय नहीं। साहचर्य-संभूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिर-परिचित दृश्यों में कितने माधुर्य की अनुभूति होती है। बाल्य जीवन की स्मृतियाँ हमारे भावों को लीन कर देती हैं। सीधी-सादी वस्तु में ही हमें असीम माधुर्य मिल जाता है। कहीं भी रहकर हम प्रकृति के विस्तृत प्रांगण को सर्वथा नहीं त्याग सकते। स्वयं ही चिर स्थापित विचार, भावनाएँ उस ओर खींच ले जाते हैं और इनमें रमने वाले ही भावुक कहे जाते हैं। प्रकृति को केवल विलास रूप में देखने वालों में रागात्मक तत्त्व का नितांत आभाव होता है।

प्राकृतिक तथ्यों पर कवि आरोप करके उसे काव्य से सूक्ति के क्षेत्र में घसीट लाता है, यह अलंकार रूप हो जाता है और वास्तविक सौंदर्य नष्ट हो जाता है। शुक्ल जी ने धार्मिक तथ्यों तथा अन्योक्तियों द्वारा यह बात स्पष्ट करने की चेष्टा की है। शुक्ल प्रत्यक्ष जीवन में ही वास्तविक रसानुभूति मानते हैं, उनका आग्रह अर्थ ग्रहण की अपेक्षा बिंब ग्रहण पर अधिक है।

समस्त चराचर पूर्ण काव्य दृष्टि—समस्त चराचर के मार्मिक तथ्यों में

अनुराग रखने वाली काव्य-दृष्टि अधिक गम्भीर और व्यापक कही जाती है। भावना का इतना विस्तार होने नरसत्ता को अनन्त व्यक्त सत्ता में समझते हैं और हमारी पार्थक्य बुद्धि का परिहार होता है। उस समय हृदय उच्चभूमि पर पहुँचकर अनुभूति को भी बदल डालता है।

इन क्षेत्रों में कुछ तथ्य गूढ़ और कुछ प्रत्यक्ष होते हैं। "जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए।" ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत सामग्री ही भाव संचार का मार्ग प्रशस्त करती है। शुक्लजी कहते हैं ज्ञान क्षेत्र का बुद्धि व्यवसायात्मक विस्तार होने के कारण हमें अपने हृदय का भी विस्तार करना होगा।

काव्य और व्यवहार--भाव ही मनुष्य को कर्म में प्रवृत्ति करने वाली मूल प्रवृत्ति है, केवल बुद्धि तथा ज्ञान द्वारा ही कुछ नहीं हो सकता। कर्म प्रवृत्ति के लिए हृदय में वेग की आवश्यकता होती है, शुद्ध ज्ञान या विवेक में यह वेग नहीं होता, होता है केवल कविता में। काव्य कर्म तथा क्षेत्र में बाधक नहीं साधक है। कविता से मन का परिष्कार होता है, संकुचित, स्वार्थ पूर्ण क्षेत्र से निकलकर वह चराचर से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उच्च स्तर पर उठ जाता है।

मनुष्यता की उच्च भूमि— मनुष्य की क्रियाओं, भाव मनोविकारों को कविता विस्तृत करती है। मनुष्यत्व में पशुत्व से अधिक भाव प्रसार होता है। इससे उसके हृदय में समस्त प्राणी मात्र से प्रेम करने का स्थान बन गया। काव्य के कारण ही वह प्रकृति के अणुमात्र में भी अनुराग रखता है। कवि की वाणी से हृदय का बन्धन खुलकर मनुष्यता की उच्च भूमि प्राप्त होती है, तथा जड़, मृत, शुष्क हृदय को भी प्रकृत दशा में लाती है। "भाव योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है।"

भाव या कल्पना—शुक्ल जी कहते हैं, काव्यानुशीलन, भावयोग तथा उपासना एक ही है। दूर स्थित वस्तु की मूर्ति हृदय में लाना आजकल 'भावना' या 'कल्पना' कहलाता है। कल्पना भाव-प्रवर्तन के लिए आवश्यक है। शिथिल, अशक्त, भावना या कल्पना वालों में रागात्मकता का आभव होता है। कल्पना दो प्रकार की होती हैं—१. विधायक, २. ग्राहकी। विधायक कवि में अपेक्षित

होती है, ग्राहक पाठक में जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता, वहाँ पाठक
अपनी ओर से मूर्ति विधान करना पड़ता है।

मनोरंजन—कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षी करण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है, न कि केवल मनोरंजन। मनोरंजन द्वारा कविता मनुष्य की चित्त की अस्थिरता को रो देती है, इसी रमाने वाली शक्ति के कारण पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता को काव्य का साध्य स्थिर किया। मनोरंजन तो कहानी भी करती हैं। परन्तु भाव का प्रसार केवल कविता से ही होता है। कविता विलास की सामग्री नहीं है।

सौंदर्य—"सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है मन के भीतर की वस्तु है। कुछ वस्तुओं का बाह्य रंग-रूप हमारे मन पर अधिकार जमाकर उसका ज्ञान नष्ट कर देता है और हम उस वस्तु की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं और अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। यह परिणति जिस वस्तु की जितनी अधिक होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर कही जाएगी। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता का बोध जितना तिरोभाव होकर मन उस वस्तु के रूप में परिणति होगी, उतनी बड़ी हमारी सौंदर्य अनुभूति कही जाएगी। संसार में सौंदर्य के सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हैं' भेद केवल अनुभूति की मात्रा का है। जिसे सौंदर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है वह अवश्य एक दिव्य विभूति है।

कविता वस्तुओं के रंग रूप के ही नहीं, कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। कविता कुरूप को भी सुन्दर रूप दे देती है।

सुन्दर तथा असुन्दर काव्य के यही दो पक्ष हैं। कवि की दृष्टि सुन्दर ही की ओर जाती है। कवि कई प्रकार के सौंदर्यों का मेल करके प्रभाव वृद्धि करते हैं।

चमत्कारवाद—काव्य में मनोरंजन आकांक्षी उसमें चमत्कार अथवा अनूठापन ढूँढ़ते हैं। परन्तु गम्भीरता और ऊँचे लक्ष्य वाले लोग चमत्कार को काव्य नहीं मानते। शुक्ल जी का तात्पर्य चमत्कार से यहाँ अद्भुतत्व या वैलक्ष्य राय से नहीं, उक्ति-चमत्कार से है जिसमें वर्ण-विकास की विशेषता

शब्दों की क्रीड़ा, वाक्य-वक्रता इत्यादि होती है। भाव की अनुभूति तीव्र करन के लिए भावुक कवि इसका प्रयोग करते हैं। उक्ति-वैचित्र्यशून्य को चमत्कारवादी मर्मस्पर्शी होते हुए काव्य नहीं मानते। परन्तु स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी कविता ही काव्य है। हृदय में भाव जाग्रत करने वाली अथवा प्रस्तुत तथ्य में लीन कर देने वाली उक्ति काव्य है; जो कथन के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार और कवि की निपुणता में लीन करे वह सूक्ति है। रसात्मकता तथा चमत्कार की प्रधानतानुसार काव्य अथवा सूक्ति का निर्णय कर लिया जाता है। कुन्तल के "वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्" के अनुसार उक्ति की वक्रता हम वहीं मान सकते हैं जहाँ तक वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बन्द्ध हो, इससे आगे नहीं।

कविता की भाषा—काव्य की सफलता तथा सार्थकता उसकी भाषा पर ही निर्भर है। काव्य में वर्णित विषय का एक सजीव रूप पाठक के सम्मुख आ जाना चाहिए। भाषा की लक्षणा-शक्ति द्वारा अगोचर और सूक्ष्म बात को भी सजीव और स्थूल रूप में स्पष्ट ढंग से रख दिया जाता है। सभी देशों में यह कवि कर्म पाया जाता है। भावना को मूर्त-रूप देने के लिए, कविता में जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार वाले शब्द अधिक रहते हैं। बहुत-से शब्दों में एक साथ बहुत से रूपव्यापारों का ग्रहण हो जाता है, ये जाति संकेत वाले शब्द कहलाते हैं, ये मूर्ति विधान के प्रयोजन के नहीं होते, क्योंकि इनसे किसी स्पष्ट रूप व्यापार का ज्ञान नहीं होता। ये तत्त्व निरूपण, शास्त्रादि में प्रयुक्त होते हैं। कविता में कुछ विषयों, व्यापारों को, मन में मूर्त्त रूप में स्थापित करना होता है, जिससे मन पर अत्यधिक समय तक प्रभाव रहे, इसलिए वह मर्मस्पर्शिनी विशेष वस्तुओं का चित्रण करती है। कविता में पारभाषिक शब्दों का प्रयोग 'अप्रतीतत्त्व' दोष कहा है, परन्तु फिर भी कुछ लोग चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयोग करते हैं।

भाषा का वर्ण-विन्यास कविता में आवश्यक है। कविता जैसे मूर्तविधान के लिए चित्र-विद्या प्रणाली अपनाती है, ऐसे ही नाद-सौन्दर्य के लिये, संगीत कला का सहारा लेती है। इसमें श्रुतिकटु वर्णों का त्याग, वृत्ति-विधान, लय अन्त्यानुप्रास आदि नाद सौन्दर्य के साधन हैं। नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। इसी कारण लोग बहुत सी कविताओं का अर्थ समझे बिना ही उन्हें गुनगुनाने में आनन्द लेते हैं। काव्य-भाषा में संस्कृत से आई चौथी

विशेषता है, व्यक्तिवाचक नामों के प्रयोग स्थान पर उनके रूप, गुण, कार्य बोधक शब्दों का प्रयोग । गिरिधर, माधव, मुरारी ऐसे ही शब्द हैं । परन्तु इनका प्रयोग करते समय प्रसंगानुकूलता ध्यान में रखनी चाहिये ।

अलंकार—कविता में भावना तीव्र करने, उत्कर्ष पर पहुँचने, आकार रंग-रूप में चटकीलापन करने के लिए नवीन शब्दों,साम्य गुणवाली वस्तुओं को सामने रखना पड़ता है । परन्तु यह साध्य नहीं, साधन-मात्र ही हैं । अलंकार को साध्य मनाने वाले उसके प्रयोग से कविता को विकृत कर देते हैं। शुक्ल जी कहते हैं, "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हो, (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक इत्यादि में) चाहे वाक्व-वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशंसा, परिसंख्या, व्याज स्तुति, विरोध इत्यादि में) चाहे वर्ण-विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिए ही । वस्तु-तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकार काव्य को सजीव, मूर्त्त नहीं बना सकते । अलंकार वर्ण्य या प्रस्तुत नहीं, वर्णन की विभिन्न प्रणालियाँ हैं, विषय प्रस्तुत करने के विशेष ढंग हैं । वस्तु निर्देश रस-व्यवस्था का विषय है, अलंकार का नहीं ।

जो अलंकार सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने में प्रयुक्त नहीं होते वे काव्यालंकार नहीं, वह तो कोने में पड़े गहनों के ढेर के समान हैं ।

कुछ कवियों ने धन-लोभ अथवा अपने स्वार्थ के निमित्त अपात्रों की स्तुति करके कविता पर अत्याचार किया । कविता स्वार्थ, संकुचित भावना और विलास सामग्री से दूर है । वह साधारण, स्वाभाविक वस्तुओं में उच्च-कोटि का सौन्दर्य ढूँढ़ लेती है ।

शुक्ल जी संसार में अन्य शास्त्रों, ज्ञान, विज्ञान की अपेक्षा कविता को अति आवश्यक मानते हैं। कविता ससार में किसी न किसी रूप में हर स्थान पर हर समाज में प्राप्त है। मनुष्य की अन्तः प्रवृत्ति में मनुष्यता जगाने के लिए इस जटिल व्यस्त जीवन में, शुक्ल जी वहुत आवश्यक मानते हैं ।

प्रश्न १८ - काव्य विधान तथा सृष्टि-प्रसार का क्या सम्बंध है ? आचार्य शुक्ल प्रकृति को कविता में क्या स्थान देते हैं, सक्षेप में समझाइए ।

उत्तर—इस संसार की सृष्टि में हमें दो रूप प्राप्त होते हैं —मूर्त्त तथा अमूर्त्त रूप अथवा गोचर तथा अगोचर रूप । इनमें से बाह्य अथवा मूर्त्त रूप स्थूल होते हैं तथा अमूर्त्त या अन्तःरूप सूक्ष्म होते हैं । इनमें से प्रथम रूप तो

प्रत्यक्ष होने के कारण अनुभव करने में सुविधाजनक होता है, परन्तु द्वितीय अप्रत्यक्ष होता है, इस कारण उसकी अनुभूति के लिए विशेष पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है। यह विशेष पद्धति कविता है। काव्य के द्वारा ही इन दोनों रूपों में मिलन का भाव उत्पन्न होता है। कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह प्रत्येक व्यापार अथवा स्थिति का बड़ी ही सूक्ष्मता से विवेचन करता है अथवा चित्रण करता है जिसके द्वारा पाठक अथवा श्रोता उसकी अनुभूति शीघ्र कर लेता है। इस प्रकार कविता मनुष्य का तथा शेष सृष्टि का सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होती है, वह बाह्य प्रकृति तथा मनुष्य की अन्तःप्रकृति में सामंजस्य स्थापित करती हुई उसका प्रसार करती है। जो मनुष्य स्वयं अपने आप में ही मस्त रहता है या शेष सृष्टि से सम्बन्ध नहीं रखता, वह मनुष्यता से दूर चला जाता है। भौतिक जीवन में ही सच्चा आनन्द नहीं है। सत्य आनन्द का अनुभव तो उसी स्थिति में होगा जबकि वह अपने साथ समस्त सृष्टि का सम्बन्ध स्थापित करता है। आचार्य शुक्ल के काव्य सम्बन्धी विचार पश्चिम के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ (Wiliam Wordsworth) से साम्य रखते हैं। शुक्ल जी प्रकृति के प्रत्येक अंग, लहलहाते खेत, जंगल, टेढ़े-मेढ़े नदी-नाले, सुन्दर वाटिका, पक्षियों का कलरव, में आनन्द के एक हृदयस्पर्शी रूप का अनुभव करते हैं। वह लिखते हैं, "इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।"

काव्य दृष्टि के विभिन्न क्षेत्र हैं। कहीं तो वह नर क्षेत्र में ही सीमित रहती है; कहीं मनुष्येत्तर बाह्य सृष्टि में रम जाती है और कहीं वह समस्त विश्व को ही अपना क्षेत्र बना लेती है, उसमें मग्न हो जाती है। वास्तव में यह काव्य दृष्टियाँ काव्य की श्रेष्ठता के मानदण्ड कहे जा सकते हैं।

संसार में काव्य-रचना के लिए प्रथम दृष्टि अर्थात् नर क्षेत्र को ही सर्वाधिक ग्रहण किया गया है। महाकाव्य तथा मुक्तक काव्य में इस प्रकार की पर्याप्त रचना प्राप्त होती है। नरत्व की बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति के विभिन्न रूपों तथा नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का चित्रण इनमें प्राप्त होता है। प्राचीन महाकाव्यों तथा खंड-काव्यों में जहाँ नर क्षेत्र पर ही दृष्टि मुख्य रूप से रहती थी वहाँ अन्य दो क्षेत्र भी उस काव्य-यात्रा में आ

जाते थे। वाल्मीकि रामायण में नरक्षेत्र से बाहर मनुष्येतर बाह्य प्रकृ अनेकों सुन्दर चित्रण प्राप्त होते हैं। महाकाव्यों के अतिरिक्त खंड काव्य मुक्तकों में भी नरक्षेत्र की प्रधानता सर्वत्र प्राप्त होती है। उसमें भी म की भीतरी तथा बाहरी वृत्तियों का विशद् चित्रण प्राप्त होता है। शुक्ल लिखते हैं, "साहित्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है।" का में रतिभाव नायक अथवा नायिका के प्रति होता है। वह उन प्राकृतिक दृ के प्रति नहीं होता जो शृंगार के उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। वह दूसरों में प्रीति की तीव्रता करने में सहायक होते हैं स्वयं वह आलम्बन होते अर्थात् उनके प्रति प्रीति का भाव नहीं होता। यह उद्दीपन रूप संयो नायक-नायिका के सुख में वर्द्धन करते हैं और वियोग में विरह भावना बढ़ाते हैं। शुक्ल जी इस प्रकार की पद्धति के कारण क्षोभ प्रकट करते उनका दृढ़ मत है कि कविता में प्रकृति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, के प्रकृति के सुन्दर दृश्यों की नाम-गणना ही नहीं होनी चाहिए। इसके अति काव्य में मनुष्यों के रूप, उनके व्यापार तथा मनोवृत्तियों का सादृश्य त साधर्म्य के कारण जो प्राकृतिक वस्तु व्यापार ग्रहण किये जाते हैं उनका स भी कविता में गौण होता है। वह केवल नरक्षेत्र से ही सम्बन्धित होते हैं।

द्वितीय काव्य दृष्टि अर्थात् मनुष्येतर बाह्य दृष्टि का चित्रण प्राचीन सं प्रबन्ध काव्यों में प्राप्त होता है। प्रकृति का ग्रहण वहाँ आलम्बन रूप में है। इसका ज्ञान हमें वर्णन प्रणाली से हो जाता है। जब कुछ शब्दों का क किया जाता है तो कई बार हमारे सम्मुख उसका चित्र आ जाता है जैसे क शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सम्मुख एक ललाई लिये हुए सफेद पंखु और झुके हुए नाल सहित एक पुष्प विशेष की मूर्ति आ जाती है यह स था कि कोई मूर्ति न आकर केवल अर्थ समझ कर काम चल सकता था। प कविता में दृश्य चित्रण के लिए प्रथम प्रकार का संकेत ग्रहण अथवा बि ग्रहण अपेक्षित होता है तथा व्यवहार और शास्त्र चर्चा में दूसरे प्रकार का अ अर्थ-ग्रहण। बिम्ब-ग्रहण उसी स्थिति में हो सकता हैं जिसमें कवि वस्तुओं सूक्ष्म निरीक्षण करके उनके अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकार-प्रकार का संश्लिष्ट ब करता है। परन्तु इस प्रकार के सूक्ष्म चित्रण और विवरण के लिए कवि का

वस्तु में अनुराग होना आवश्यक है। यदि कविता में ऐसा सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है तो समझना चाहिए कि उस स्थान पर कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया है। आचार्य शुक्ल जी ने वाल्मीकि के हेमन्त वर्णन का उदाहरण दिया है (चिन्तामणि भाग १, पृष्ठ १४८)। कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसंभव में और विशिष्ट रूप से मेघदूत में प्राप्त होता है। मेघदूत के संबंध में शुक्ल जी लिखते हैं, "मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता, वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी व्योम दृष्टि।"

प्रकृति अनेक और अनन्त रूपों में, हमारे सामने आती है। कहीं वह मधुर, सुसज्जित रूप में; कहीं शुष्क और विकृत, कठोर रूप में। परन्तु श्रेष्ठ और सच्चा कवि इन रूप विभिन्नताओं की चिन्ता न करके सभी रूपों में एक ही दृष्टि से ग्रहण करता है कवि के अनुराग का कारण अपना सुख भोग नहीं बल्कि प्रकृति से चिरसाहचर्य की प्रतिष्ठित वासना है। वह प्रकृति को मनोरंजन और तमाशे के रूप में ग्रहण नहीं करते बल्कि हृदय का सच्चा अनुराग उस पर उँड़ेलते हैं। इस प्रकार के कवि जैसे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति हमें प्राचीन संस्कृत काव्य में उपलब्ध होते हैं। परन्तु बाद के कवि और विशेष रूप से रीतिकालीन कवियों ने प्राकृतिक चित्रण केवल उद्दीपन मात्र के लिए किया है। अंग्रेजी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। उनकी दृष्टि सामान्य, चिरपरिचित, सीधे-सादे, प्रशान्त तथा मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, परन्तु शैली की (एक अंग्रेजी कवि) असाधारण, भव्य और विशाल की ओर।

प्रकृति के साथ मानव जाति का साहचर्य अत्यन्त ही प्राचीन है और इस कारण उसके सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में हृदय को एक विशेष आनन्द तथा माधर्य की प्राप्ति होती है। हमें अपने बाल्यकाल के समय की विभिन्न मधुर स्मृतियाँ आती हैं, हम उनमें ही डूब जाते हैं। यद्यपि वह सीधे-सादे स्थान चमक-दमक पूर्ण न थे परन्तु हृदय को स्पर्श करने वाली शक्ति उनमें है। शुक्ल जी छोटा-सा चित्रण देते हैं, "बुड्ढ़ी की झोंपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था; नींव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी पर सत्यानाशी के नीलाभ-हरित

कटीले, कटावदार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल संपुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थीं।"

हमारे जीवन का प्रकृति के साथ एक गहरा संबन्ध है, हम उसके बिना नहीं रह सकते। घरों में वाटिका लगाना, कृत्रिम तालाब बनाना, पशु-पक्षियों का पालना इस बात के सजीव उदाहरण हैं। जो मनुष्य केवल अपना ही विलास, सुख भोग खोजते हैं उनमें उस रागात्मक सत्व का अभाव है, जो विश्व की समस्त वस्तुओं के साथ एकता की अनुभूति में लीन कर हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। मनुष्य की साधना पूर्ति के लिए दोनों ही वृत्तियों का समन्वय अत्यन्त आवश्यक है।

इन काव्य दृटिष्यों की अपेक्षा कवि की समष्टि दृष्टि अधिक व्यापक और गंभीर होती है। सच्चे कवि की दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही सीमित नहीं होती बल्कि निर्जीव और जड़ वस्तुओं की ओर भी जाती है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले, आकाश, मेघ आदि से कवि विभिन्न भावनाएँ प्राप्त करता है। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति योगी या कवि इनके द्रष्टामात्र होते हैं। ऐसी भावना का प्रसार और विस्तार व्यापक होता है और हम अनन्त व्यक्त-सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य-बुद्धि अर्थात् मेरे-तेरे, अपने-पराये की भावना का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय भी उच्च भूमि पर पहुँच जाता है।

किसी भी क्षेत्र का तथ्य जो हमारे अन्दर भावों को उत्पन्न करता है वह आलम्बन होता है। ज्ञान प्रसार से ही भाव प्रसार होता है। पहले मनुष्य की चेतना सत्ता में ज्ञान की समष्टि होती है फिर धीरे-धीरे अन्तःकरण का प्रसार (हृदय प्रसार) होता है। इस प्रकार समस्त चराचर पर समष्टि रूप से दृष्टिपात करने वाली दृष्टि ही सर्वोच्च है, उसका ग्रहण करने वाला कवि ही सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न २१—सौंदर्य तथा चमत्कार के संबंध में आचार्य शुक्ल के विचार व्यक्त करते हुए बतलाइए कि वह काव्य में इनका क्या स्थान मानते हैं।

उत्तर—सौंदर्य का भी काव्य में एक महत्त्व होता है। क्योंकि यह हृदय की वस्तु है, जो कि उसी से उत्पन्न होती है और उसी की सौंदर्य की अनुभूति होती है। यह बाहर की वस्तु नहीं है। पाश्चात्य काव्य-कला

में इसको बहुत ही उच्च कोटि की वस्तु माना गया, परन्तु शुक्ल जी के विचारानुसार यह केवल भाषा को गड़बड़ में डालता है और कुछ नहीं करता। सुन्दर वस्तु में ही सौंदर्य निहित होता है, उससे अलग कुछ नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि वस्तुएँ अपने विशिष्ट प्रकार के रंगरूप आकार-प्रकार से पाठक तथा श्रोता के हृदय पर अधिकार कर लेती हैं और वह केवल उनके उस रंगरूप में डूबकर उन वस्तुओं के ज्ञान को त्याग देता है। यह हमारी अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति ही वास्तव में सौंदर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ वस्तुएँ हमें एक आपत्ति के समान प्रतीत होती हैं और हम उनको तुरन्त त्याग देते हैं। जो वस्तुएँ हमारे मन पर अधिक समय तक अधिकार करके आत्मलय और आत्म-अनुभूति में ही लीन रखती हैं वही सौन्दर्य-चेतना की सर्वश्रेष्ठ प्रतीक होती हैं। यह सौंदर्य चेतना वास्तव में योग की समाधि स्थिति से पूर्णतः भिन्न है।

जिस प्रकार का हर्ष-विषाद हम जगत् में बाहर देखते हैं, वैसा ही हमारे अन्दर भी होता है, जिसे हम मन कहते हैं। जिस वस्तु के ज्ञान अथवा अनुभव से हम अपने आपको विस्तृत कर देते हैं वह उतनी ही अधिक सौंदर्य अनुभूति होती है। यही आदर्श समस्त संसार में प्राप्त होता है। केवल भेद उसकी अनुभूति का होता है। किसी की अनुभूति हलकी होती है, किसी की गहरी। वास्तव में सौंदर्य की प्राप्ति मनुष्य को नहीं बल्कि वह तो विस्तृत प्रकृति के रूप में ही प्राप्त होती है। सर्वश्रेष्ट सौन्दर्य-भावना तो एक दिव्य विभूति है, जो कि मनुष्य में से इस भावना का तिरोभाव कर देती है कि उसकी एक पृथक् सत्ता है। हिन्दी साहित्य के सूर और तुलसी जैसे कवियों ने भी ऐसी दिव्य विभूतिपूर्ण मंगल दशा का अपनी भक्ति-साधना में अनुभव किया।

कविता केवल बाहरी रंगरूप और सौन्दर्य का प्रदर्शन करने वाली नहीं बल्कि वह तो कर्म और मनोवृत्ति के सौंदर्य का भी हृदयस्पर्शी चित्रण हमारे सम्मुख करती है। उदाहरणस्वरूप कमल का सुन्दर पुष्प जैसे किसी सौंदर्य पूर्ण रमणी का मुखमंडल हमारे मन में प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार से वह उदारता, वीरता, त्याग, दया आदि कर्मों और मनोवृत्तियों का भी सौंदर्य मन में स्थापित करती है। कविता का तो उद्देश्य ही यह है कि वह कुरूप से कुरूप वस्तु को भी सुन्दरतम रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। जो

काव्य हमें किसी रमणी की सुन्दरता के माधुर्य का आस्वादन करवाता है वहां उसके हृदय की सुन्दर भावनाओं का आभास देकर हमें मुग्ध करता है। कवि तो सभी वस्तुओं को व्यापारों की तथा पात्रों को, जिनका वह चित्रण करता है, एक ही दृष्टि से अर्थात् प्रकरण अनुसार सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करता है। जैसे कि हम वन, पर्वत, नदी आदि बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य में लवलीन हो जाते हैं उसी प्रकार से अन्तःप्रकृति की दया, श्रद्धा, भक्ति आदि भावनाओं में भी सौंदर्य का रस पाते हैं और यदि इन दोनों ही सौंदर्यों का योग हो जाए तो वह सौंदर्य-भावना सर्वोत्कृष्ट होगी।

काव्य में दो पक्ष होते हैं सुन्दर और कुरूप। भला-बुरा, पाप-पुण्य, उपयोगी-अनुपयोगी शब्द काव्य के न होकर नीति, धर्म व्यवहार के शब्द हैं। विशुद्ध काव्य-क्षेत्र में तो ऐसी कोई भावना नहीं कि क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर है। केवल दृष्टि भेद होता है। कवि मंगल भावना में लोक-परलोक मोक्ष का ध्यान न करके हर ओर सौंदर्य ही सौंदर्य देखता है। यह विचार कविता की अनेकों समस्याओं और कठिनाइयों से बचाता है।

कवि तो हर स्थान पर चाहे वह कहीं भी हो, सौंदर्य-दर्शन अथवा सौंदर्य की अनुभूति कर ही लेता है। कवि लोग अपने उत्कर्ष के लिए विभिन्न प्रकार के सौंदर्यो का मिश्रित रूप अपनी रचना में प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में सौंदर्य तो वहीं होता है, जहाँ मनुष्य के बाहरी और भीतरी सौंदर्य के साथ प्रकृति का सौंदर्य भी मिला दिया जाय।

काव्य में सौंदर्य का जहाँ महत्त्व है वहीं चमत्कार भी अथवा अनूठापन भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। शुक्ल जी के विचारानुसार चमत्कार केवल वाणी रंजन है और कुछ नहीं। काव्य में इस मनोरंजन की खोज करने वाले केवल चमत्कार को ही ढूंढ़ते हैं, परन्तु उच्च भावना और गम्भीर लक्ष्य वाले नहीं। शुक्ल जी का यहाँ चमत्कार से अर्थ—उक्ति, वर्ण विन्यास, काव्य-क्रीड़ा, वाक्य-वक्रता, अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुत तत्त्व तथा दूरारूढ़ कल्पना से है अद्भुत रस के आलम्बन वाले चमत्कार से नहीं।

भावुक कवि ही भावों की अनुभूति तीव्र करने के लिए चमत्कार का प्रयोग करते हैं। रूप एवं व्यापार का यथातथ्य चित्रण करने के लिए अथवा उसकी व्यञ्जना के लिए कवियों को एक विशेष पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है। कभी-कभी मनुष्य मूर्ख के स्थान पर उल्लू या गधा या बैल कहकर

सम्बोधित करता है। इन दूसरे शब्दों से मूर्ख शब्द की अपेक्षा गहन अनुभूति होती है। ऐसे ही उक्ति-वैचित्र्य को बहुत से लोग काव्य का आवश्यक और नित्य लक्षण मानते हैं और शेष को इस चमत्कार से विहीन होने पर काव्य नहीं मानते। परन्तु शुक्ल जी इस मत से सहमत नहीं। पद्माकर का एक उदाहरण स्पष्ट करता है :

"नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खलन होरी" क्या इस सरल सीधी-सादी उक्ति में जो कि वैचित्र्य विहीन है काव्यत्व नहीं है। यदि इनकी तुलना चमत्कारवाली उक्तियों से की जाय, जितनी प्रभात होने पर कौवों के काँव-काँव का कारण यह भय बताता है कि कालिमा या अन्धकार का नाश करने में प्रवृत्त सूर्य कहीं उनका भी नाश न कर दे। भोज प्रबन्ध और सुभाषित संग्रहों में इस प्रकार की उक्तियाँ हैं। केशव की 'रामचान्द्रका' में भी यह चमत्कार प्राप्त होता है—हृदयस्पर्शी और भाव मग्न करने वाली कोई वस्तु नहीं मिलती।

वास्तव में तो बात यह है कि जिस कथन में कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वर्ती बात छिपी है, उसमें वैचित्र्य न भी हो तो भी काव्य को समता प्राप्त होगी। कविता का उद्देश्य मनोरंजन या मनबहलाव नहीं है। यदि प्रत्येक भाँति की कविता में हम केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रसरूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य का प्रयोजन नष्ट हो जाता है। क्योंकि वहाँ तो अन्य कुछ न होकर चमत्कार ही होता है हृदय पर प्रभाव तो उक्ति का ही पड़ता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उक्ति विचित्र अद्भुत या लोकोक्ति हो। वह काव्य कथन जो कि मन को भावना की मार्मिकता में लीन नहीं करता केवल जो मन को अनूठे कथन, नवर्ण-विन्यास, दूर की सूझ, कवि कौशल की ओर ही आकर्षित करता है, यह काव्य न होकर सूक्ति होती है। काव्य तथा सूक्ति में भेद है। मार्मिक भावना में हृदय को लीन करने वाली उक्ति तो काव्य है और जो कथन के अनूठे ढंग, रचना वैचित्र्य और कवि की निपुणता के विचार में प्रवृत्त करे वह सूक्ति है।

यदि किसी कथन में रसात्मकता और चमत्कार दोनों ही हों तो उनके काव्य या सूक्ति होने का निर्णय इस आधार पर होता है कि उनमें से किसकी प्रबलता है। उसी उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में हो परन्तु वह उसकी

तह में रहने वाला भाव आच्छन्न नहीं करता वहाँ भी काव्य माना जाता है। शुक्ल जी ने देव के एक उदाहरण के (चिन्तामणि, भाग १ पृष्ठ, १७२) द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है कि उसमें चमत्कार के बीज में भी उनकी वास्तविक भावना वैसी ही है, लुप्त नहीं हुई। मतिराम की इन पंक्तियों में व्यंग चमत्कार होते हुए भी भाव की सफलता पूर्णरूप से लक्षित होती है

आंखिन तें गिरी आंसू के बूंद,
सुहाग गयो उड़ि हंस की नाईं ।।

कितना सुन्दर उक्ति वैचित्र्य है, व्यंग्य चमत्कार है। परन्तु वर्षा के इस रूपक में स्पष्ट भाव तो अलग ही झलकता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि भावों के आवेग के कारण कुछ वक्रता आ जाती है परन्तु वह काव्य प्रतिक्रिया के भीतर ही रहती है, भाव-विधान के बाहर नहीं। उदाहरणार्थ द्विजदेव की यह मनोहर उक्ति देखिये—

तू जो कही, सखी ! लोनो सरूप,
सो मो अँखियान को लोनो गई लगि ।।

ऐसी जटिल अन्तर्वर्ती द्वारा प्रेरित उक्तियों में विचित्रता आ ही जाती है परन्तु भाव नष्ट नहीं होता। इस प्रकार उक्ति में वचन-भंगी या वक्रता को वहीं तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक कि यह भाव अनुमोदित हो या किसी अन्तर्वर्ती से सम्बन्धित हो। कुन्तल की वक्रता बहुत व्यापक है। वाक्य वैचित्र्य की वक्रता तथा वस्तु वैचित्र्य की वक्रता इन दोनों को ही ग्रहण करके यह सालंकृत वक्रता के चमत्कार में ही काव्यत्व मानते हैं। पाश्चात्य वक्रोक्तिवाद लक्षण प्रधान है। पश्चिम में लोक लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में उक्ति के अनूठे स्वरूप में काव्यत्व मानते हैं। समस्या तो यही होती है कि काव्यत्व किस उक्ति में माना जाये। चमत्कारवादी तो चमत्कार में ही मानते हैं, मनोरंजन मात्र में मानते हैं परन्तु इस विचारधारा से सहमत नहीं (शुक्लजी ऐसे ही व्यक्ति हैं) वह इस बात का समर्थन नहीं करेंगे। वह तो कहीं-न-कहीं उनमें भाव प्रधानता और मर्मस्पर्शिता का तथ्य अवश्य खोज निकालेंगे।

प्रश्न २२—कविता में भाषा का क्या महत्व है, और वह कहाँ तक कविता को उसके उद्देश्य में सहायता करती है ? इस सम्बध में आचार्य शुक्ल जी के कविता की भाषा के सम्बंध में विचारों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—भाषा का कविता में एक अत्यन्त ही विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। कविता की भाषा का सौष्ठव ही पाठक को उसकी ओर खींचता है, उसको रसास्वादन भी कराने में सहायता करता है। मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश में कविता का प्रयोजन बतलाते हुए उसे कान्तासमित उपदेश कहा है। यह (कविता) कामिनी द्वारा प्रदत्त अत्यन्त ही सुन्दर तथा सरस भाषा में उपदेश होता है। यह उपदेश ही पाठक के हृदय को आनन्दमग्न करता है। इस प्रकार काव्य में भाषा का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण और अपूर्व स्थान है। काव्य की भाषा में एक सजीवता होनी चाहिए। वह इतनी प्राणपूर्ण हो कि पाठक उसमें कथित भावों की, उसमें कथित विषय की एक अत्यंत सजीव अनुभूति करे। जो कुछ भी कवि पाठक को प्रदान करना चाहता है वह इतनी सौष्ठवपूर्ण और सजीव भाषा में हो कि उसका एक चित्र हमारे सम्मुख आकर उपस्थित हो जाए। यही चित्र पाठक के हृदय को प्रभावित करके उसे रसमग्न कर देता है। हम प्रत्येक वस्तु की अनुभूति अपनी इन्द्रियों द्वारा करते हैं परन्तु फिर भी वह अलौकिक हो सकती है। काव्य ऐसी ही अनुभूति है। यह सीधे जाकर हृदय को स्पर्श करती है। यही कारण है कि काव्य में सजीव प्रत्यक्ष रूपों का चित्रण भी बड़ा कोमल होता है। उसमें प्रस्तुत विचार अधिक तर इन्द्रियानुभूति के होते हैं। वह गोचर रूप होते हैं। यही कारण है कि काव्य में स्वाभाविक रूपों और व्यापारों को ग्रहण किया जाता है, और ऐसे रूपों और व्यापारों की बहुतायत इस जगत् में होती है और जो मनुष्य के नित्य जीवन में घटित होते रहते हैं।

कविता सूक्ष्म, अदृष्ट अप्रत्यक्ष रूपों तथा व्यापारों अथवा भावनाओं को हर सम्भव प्रयत्न से एक दृष्ट, प्रत्यक्ष और स्थूल रूप देना चाहती है जिससे पाठक या श्रोता एकदम प्रभावित हो सके। इस प्रभाव को स्थापित करने के लिए उस तप या व्यापार का चित्रण या वर्णन करने वाली भाषा अत्यंत ही उच्चकोटि की होनी चाहिए। यही कारण है कि कविता में भाषा की लक्षणा-शक्ति से सहायता ली जाती है। किसी बात को एक तो हम साधारण शब्दों में कहते हैं, एक विशिष्ट प्रकार की शब्दावली का भी प्रयोग इसके लिए कर सकते हैं। यह कवि समय सिद्ध उक्तियाँ होती हैं, उदाहरणार्थ—"बात पी जाना, मन मारना, मन छूना, उदासी टपकना इत्यादि। यह उक्तियाँ सामान्य बोल-चाल में रूढ़ि तथा परम्परागत बनकर आ गई हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति लग-

भग समस्त संसार में ही प्राप्त होती है। कविता में इसके उदाहरण हम देखते हैं जैसे :—

(१) मनहु उमागे अंग अंग छलकै। —तुलसी

(२) चूनरी चारु चुई सी परै। —पद्माकर

(३) हौं तो श्याम रंग में चोराम, चित्त चोरा चोरी बोरत तो बोलो पै निचोरत बनै नहीं। —पद्माकर

इसमें पहला उदाहरण 'अंग-अंग छबि छलकै' ऐसा ही है, यहाँ इस शब्दावली के स्थान पर अत्यंत सौंदर्यपूर्ण होना भी प्रयोग हो सकता था, परन्तु वह इतना मधुर और हृदयस्पर्शी नहीं बन पाता। इन उपर्युक्त उदाहरणों के शब्दों में सजीवता है, वस्तु-विषय का जीता जागता रूप है। कवि को रूप तथा व्यापार को पूर्ण प्रत्यक्षीकरण तथा भाव की मार्मिक अन्तःवृत्ति के अनुरूप व्यंजना के लिए लक्षणा की सहायता लेनी पड़ती है।

काव्य में अपनी भावना को गोचर-रूप से उपस्थित करने के लिये कवि एक अन्य पद्धति को भी ग्रहण करता है, कि वह जाति-संकेत वाले शब्दों के स्थान पर विशेष रूप व्यापार सूचक शब्दों का अधिक व्यवहार करता है। जाति संकेत वाले शब्द वह होते हैं जो कि एक साथ अनेकों अर्थों का बोध करवाते हैं। जैसे अत्याचार शब्द में मारना, पीटना, डाँटना, अन्याय आदि अनेकों अर्थों का ग्रहण हो जाता है। इस मिश्रित भाव को व्यंजित करने वाले इन शब्दों से पाठक के हृदय में विषय-वस्तु का एक हल्का-सा व्यापार अथवा चित्र आकर उपस्थित हो जाता है। परन्तु ऐसे शब्द पाठक को एक स्पष्ट भावना या चित्र प्रदान न कर सकने के कारण कविता में कम ही प्रयोग होते हैं। यह शास्त्र में प्रयोग होते हैं, क्योंकि पारिभाषिक होते हैं।

कविता में शास्त्रों की भाँति अर्थ संकेतों से काम नहीं चल सकता, क्योंकि कविता में तो शब्दों द्वारा कुछ वस्तुओं और व्यापारों को इस प्रकार के मूर्त्त रूप में उपस्थित करना है कि वह मन को प्रभावित करके और कुछ समय तक थिर रहे। हृदय को प्रभावित करने के लिए ही कविता में कवि एक स्थिति का वर्णन करते हुए उसकी सबसे अधिक मर्मस्पर्शिनी विशेष वस्तुओं का रूप चित्रण करता है। उदाहरणार्थ जब कवि किसी स्थान पर अत्याचार का वर्णन करता है तो उस स्थान पर निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण तथा कठोर यंत्रणाएँ, निरीह स्त्री तथा बच्चों पर निष्ठुर प्रहार आदि के क्षोभकारी

दृश्य प्रस्तुत करके पाठक के हृदय में करुणा भरकर प्रभावित करता है। इन दृश्यों के स्थान पर यदि यह केवल वह कहता 'वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है' तो कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। यह भाषा की ही विशेषता है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य में पारिभाषिक शब्दावली को वर्जित किया हुआ है, क्योंकि उसमें 'अप्रतीतत्व दोष' माना जाता है। भारतीय आचार्य भरत मुनि ने शुभ काव्य के सात लक्षणों में यह कहा है कि उसमें 'मृदुललित पदावली, गूढ़-शब्दार्थ हीनता, सर्व सुगमता तथा रस के अनेक स्रोतों को बहाने का गुण होना चाहिए।' इन सभी शुभ लक्षणों का भाषा से अभिन्न सम्बन्ध है, क्योंकि यह विशेषताएँ भाषा द्वारा ही उत्पन्न हो सकती हैं। परन्तु जो लोग काव्य में चमत्कार को देखना चाहते हैं वे 'अप्रतीतत्व' दोष को नहीं मानते। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें संस्कृत के वेदान्त, आयुर्वेद, न्याय ग्रन्थों में प्राप्त हो सकते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं, "हिन्दी के किसी मुकदमेबाज कवित्त कहने वाले ने 'प्रेम-फौजदारी' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक में शृंगार रस की बातें अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी हैं। 'एकतर्फा डिगरी' 'तनकीह' ऐसे-ऐसे शब्द चारों ओर अपनी बहार दिखा रहे हैं। जिन्हें सुनकर कुछ अशिक्षित या भद्दी रुचि वाले वाह-वाह भी कर देते हैं।"

जब कोई कवि अपनी रचना में किसी शास्त्र निरूपित तथ्य को ग्रहण करता है तो वह उसकी पारिभाषिक तथा जाति संकेत वाली शब्दावली को हटाकर उस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए विशेष मार्मिक रूपों और व्यापारों का चित्रण वहाँ करता है। कवि उस तथ्य को अमूर्त्त से मूर्त्त तथा अगोचर से गोचर रूप प्रदान करता है। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी के यह वचन देखिए—

डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ ! नींद भरि सोयो।

इसमें उस व्यथित हृदय प्राणी का चित्रण किया है। जो आयु-भर क्लेश निवारण और सुख प्राप्ति का प्रयास करता है, परन्तु सच्ची सुख-शान्ति उसे कभी भी नहीं प्राप्त होती। कवि अपने काव्य में कथन द्वारा जब कोई मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है तो वह इसी पद्धति को अपनाता है,

वह सबसे अधिक व्यंजक और स्वाभाविक शब्दों को ग्रहण करता है। इसके द्वारा वह अपने कथन का एक सजीव भावनापूर्ण चित्र पाठक के सम्मुख उपस्थित कर देता है।

भाषा की तीसरी विशेषता है वर्ण-विन्यास अथवा वर्ण-योजना, जो काव्य के शब्द लालित्य के लिए अत्यंत ही आवश्यक है। काव्य में प्रयुक्त शब्दों में कठोरता नहीं होनी चाहिए। काव्य-कला अत्यन्त व्यापक है। कवि जिस प्रकार किसी मूर्त्त विधान के लिए चित्रविधा की प्रणाली का अनुसरण करता है, उसी प्रकार से नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत कला की सहायता लेता है। बहुत-से वर्णों को श्रुतिकटु मानकर त्याग दिया जाता है। काव्य में वृत्तविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि उपकरण नाद सौन्दर्य साधन होते हैं। इस वर्ण विशिष्टता का इतना अधिक प्राबल्य हुआ कि प्राचीन कवियों की रचनाएँ विकृत और भाव-शून्य हो गईं। कवि जो कुछ कहना चाहता था, प्रेषित करना चाहता था, वह पूर्ण रूप से नहीं हो सका। जो कुछ योजना इस स्रोत प्रवाहित करने के लिए कवि ने की थी, वह एक चमत्कार और तमाशा बन गई।

जिस कविता में नाद सौंदर्य होता है, पाठक तथा श्रोता तुरन्त ही उसे ग्रहण कर लेते हैं और इस प्रकार काव्य अमर बन जाता है। उसकी आयु का वर्द्धन होता है। प्राचीन काव्यों को अब तक जो अमर स्थान मिला हुआ है वह उनके नाद सौंदर्य के कारण ही। काव्य की उक्तियाँ श्रोता या पाठक को इतनी प्रभावित कर लेती हैं कि वह उनको गुनगुनाता रहता है तथा अर्थ इत्यादि की ओर ध्यान नहीं जाता।

भाषा की चौथी विशेषता जो संस्कृत से आई है वह है व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम का प्रयोग करने के स्थान पर उनके रूप, गुण अथवा कार्यबोधक शब्दों का प्रयोग। यह पद्धति पद्य के नये चरणों में शब्द खपाने के लिए तथा काव्य को कृत्रिमता से बचाने के लिए अपनाई जाती है। यह शब्द स्वाभाविक तथा अर्थ-गर्भित होने के कारण श्रोता की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबन्धु, चक्रपाणि, मुरलीधर इसी प्रकार के शब्दों के उदाहरण हैं। ऐसे शब्दों के लिए प्रयोग करते समय उस स्थिति अथवा प्रकरण का ध्यान रखना अत्यन्त ही आवश्यक है।

इस प्रकार भाषा शुक्ल जी के विचारानुसार काव्य के सौष्ठव विधान का

एक अत्यन्त ही आवश्यक गुण है। इस सम्बन्ध में आचार्य जी प्राचीन भारतीय आचार्यों के भाषा सम्बन्धी विचारों से सहमत हैं।

१२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रश्न २३—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक कहे जाते हैं। संक्षेप में विवेचन कीजिए।

अथवा

"......भारतेन्दु जी जिस प्रकार वर्तमान गद्य-भाषा के स्वरूप प्रतिष्ठापक थे उसी प्रकार वर्तमान साहित्य परम्परा के प्रवर्तक।" शुक्ल के इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

"बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नये-नये संस्कार उत्पन्न किये पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया।" आचार्य जी की इस उक्ति के आधार पर भारतेन्दु जी के वर्ण्य विषयों की सार रूप में आलोचना कीजिए।

उत्तर हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में गद्य साहित्य का आरम्भ संवत् १८६० के निकट चार विद्वानों—मुन्शी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र की कृतियों द्वारा हुआ। परन्तु इन्होंने केवल गद्य के नमूने ही प्रस्तुत किये, इनमें से किसी को भी भविष्य में गद्य साहित्य के लिये कोई भी आदर्श स्थापित करने या निर्देश करने का यश प्राप्त नहीं हुआ। यह यश अथवा श्रेय इनके ७०-७२ वर्ष पश्चात् भारतेन्दु जी को आधुनिक गद्य भाषा के स्वरूप-प्रतिष्ठापक तथा साहित्य प्रवर्तक के रूप में प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त गद्य साहित्य के जन्मदाताओं के बाद राजा शिवप्रसाद के उर्दू भाषा से प्रभावित होने से पहले ही राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी का रूप शकुन्तला नाटक द्वारा संवत् १६१६ में प्रस्तुत कर चुके थे। इस मतभेद के कारण हिन्दी साहित्य में उर्दू और हिन्दी भाषा की समस्या उठ खड़ी हुई तथा भाषा के स्वरूप को अभी तक स्थिरता नहीं मिली थी। प्रवर्त्तन काल का आरम्भ सं० १६३० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकलने पर ही हुआ था। भारतेन्दु के सामने ही उनकी भाषा साहित्य में प्रयोग होने लगी।

भारतेन्दु का महत्त्व स्पष्ट जानने के लिये हमें उनकी तुलना प्रथम चार विद्वानों से करनी होगी। गद्य साहित्य का आरम्भ संवत् १८६० में हो गया परन्तु भाषा की व्यावहारिकता की दृष्टि से इनमें से किसी की भाषा कसौटी पर पूरी नहीं उतरी। शुक्ल जी के विचार से मुन्शी सदासुखलाल तथा सदल मिश्र की भाषा में कुछ व्यावहारिकता का पुट प्राप्त होता है परन्तु सफाई नहीं थी। मुन्शी जी की भाषा में पंडिताऊपन था जैसे "स्वभाव करके दैत्य कहलाए" तथा मिश्र जी की भाषा में प्रान्तीयता, पूरबीपन था, उदाहरणार्थ 'जो' के स्थान पर 'जौन', 'मां' के स्थान पर 'मतारी' आदि।

इनके पश्चात् राजा शिवप्रसाद तथा लक्ष्मणसिंह गद्य-साहित्य में आये राजा शिवप्रसाद उर्दू की ओर अधिक झुक गए तथा राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा प्रान्तीयता उर्दू, फारसी के शब्दों से रहित विशुद्ध हिन्दी होकर व्यावहारिक कसौटी पर खरी नहीं उतर सकी।

परन्तु भारतेन्दु जी की भाषा इनमें से किसी भी प्रवृत्ति से प्रभावित न होकर संस्कृत तथा परिष्कृत थी। संस्कृत, उर्दू, फारसी के शब्दों का प्रयोग होने पर भी वह सरल तथा सुगम थी, सफाई के साथ व्यावहारिकता की कसौटी पर पूरी थी। भारतेन्दु जी ने भाषा को सुव्यवस्था, स्थिरता देकर परिमार्जित रूप दिया। आपने वाक्य-विन्यास, विराम चिन्हों तथा वाक्यक्रम को उपयुक्तता प्रदान की।

भारतेन्दु जी ने काव्य भाषा को भी परिष्कृत किया। इन्होंने व्यवहार में न आने वाले प्राचीन शब्दों, जैसे चक्कवै, ठायो, दीह, ऊनो, लोय आदि को जिनके कारण सामान्य जनता की कविता में रुचि नहीं रही थी, को दूर किया साथ ही शब्दों की तोड़-मरोड़ का दोष भी दूर कर दिया। पुरानी परिपाटी की चलती कविताओं के स्थान पर आपने रसीले कवित्त और सवैये चलती व्यवहार की भाषा में हिन्दी कविता को दिये। इस कारण इनकी रचना इन्हीं के समय में अत्यंत लोकप्रिय हो गई।

इनके समय में हिन्दी नवीन विचारधारा से दूर थी। लोगों की रुचि के साथ साहित्य नहीं बदला। शिक्षित लोग स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आये परन्तु साहित्य को आगे नहीं बढ़ा सके। साहित्य तथा विचार-क्षेत्र और कार्य-क्षेत्र अलग न चलकर साथ ही अग्रसर होने चाहिए तभी देश की उन्नति होती है। इसके दो कारण थे, एक तो लोग नई शिक्षा से प्रभावित होकर समय

की गति, देश की आवश्यकताओं को समझते थे परन्तु उर्दू के बीच में पड़ जाने से हिन्दी से अलग से हो गये थे, दूसरे, जिनमें विचारों की प्रेरणा, जाग्रति तथा स्फूर्ति थी, उन्हें नवीन विचारों को सन्निविष्ट करने के लिए हिन्दी का क्षेत्र सीमित दिखाई पड़ा। ऐसे समय पर इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए एक सामजस्य पटु, साहसी, प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता थी। भारतेन्दु जी ने यह कठिन कार्य-भार सम्भाला।

भारतेन्दु जी ने काव्य में भावों तथा विषय की दृष्टि से प्राचीन तथा नवीन को एक कर दिया। आप सिद्ध-वाणी के अत्यन्त सरस हृदय कवि थे। एक ओर तो आपकी रचनाओं में श्रृंगाररसपूर्ण 'मर्मस्पर्शी कवित्त सवैये थे, एक ओर स्वदेश प्रेम के गान। देश में जाग्रति उत्पन्न कर रहे थे। इनके साथ ही साथ राधा-कृष्ण के प्रेम से पूर्ण भक्ति की मन-मोहक रचनायें करते हुए बाह्याडम्बरी भक्तों का उपहास करते थे। तत्कालीन सामाजिक समस्याओं—शिक्षा स्त्री सुधार, बालविवाह तथा समाज सुधार आदि को लेकर ही नवीन और प्राचीन का समन्वय साहित्य में किया।

भारतेन्दु की कविता में देश भक्ति को अत्यधिक स्थान प्राप्त हुआ। नील-देवी तथा भारत दुर्दशा में देश की दुर्दशा की मार्मिक व्यंजना है, साथ ही अन्य स्वतन्त्र कविताओं में कहीं देश के अतीत गौरव का ज्ञान है, कहीं वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ और कहीं भविष्य चिन्तन। "विजयिनी विजय वैज-यन्ती" में प्राचीन आर्य गौरव का गान है। चित्तौड़, पानीपत, जैसे ऐतिहा-सिक स्थानों का स्मरण कराकर आपने देशवासियों के हृदय में उद्वेलन उत्पन्न कर दिया। भारत दुर्दशा में आलस्य आदि को प्रस्तुत कर देश का चित्र उप-स्थित करके आदर्श मार्ग का निर्देश किया। आपने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति-प्रेम, समाज सुधार जैसे विषयों के यिए हिन्दी को चुना, साथ ही इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्त जैसे समयानुकूल विषयों में हिन्दी को स्थान प्राप्त करवाया।

भारतेन्दु जी ने कविता में नर प्रकृति का ही वर्णन करके उनके मनो-विकारों को तीव्र तथा परिष्कृत करने का उद्योग किया। इन्होंने प्रकृति को स्पर्श नहीं किया। मानव समाज के सीमित क्षेत्र में ही उसका अध्ययन किया, उसको प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में ले जाने का प्रयास नहीं किया। इस समय

की संकुचित दृष्टि में, बालमीकि, कालिदास, भवभूति के आदर्श विलीन हो चुके थे। इन महाकवियों ने मनुष्य व्यापार के साथ ही वह चित्र भी प्रस्तुत किये जहाँ मनुष्य से प्रकृति की सन्निकटता है। अन्य कवियों ने भी मनुष्य की चित्तवृत्तियों के विविध रूपों को कौशल तथा मार्मिकता से दिखाया, परन्तु बाह्य प्रकृति की ओर ध्यान नहीं दिया। धनलोलुप राज्याश्रित कवियों ने तो कविता को शब्द चमत्कार तथा शतरंज बना दिया। रीति काल के कवियों ने तो नायिका वर्णन विप्रलम्भश्रृंगार, ऋतुओं का उद्दीपन रूप में वर्णन करके ही कर्त्तव्य की इतिश्री समझी।

भारतेन्दु जी ने कितने ही समयानुकूल नवीन प्रसंग लेकर भी प्रकृति को नहीं अपनाया। आचार्य जी ने आपके जीवन प्रसंगों को प्रस्तुत करते हुए बताया कि उन्हें अपनी कविता के भाव अपने आसपास के व्यक्तियों से ही प्राप्त होते थे। भारत दुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, आदि रचनाएँ यही बात सिद्ध करती हैं। उर्दू कविता से प्रेम होने के कारण आपने भावों का सुन्दर उत्कर्ष दिखाया। परन्तु उनकी कविताओं में विशुद्ध प्रकृति वर्णन का नितान्त अभाव है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में गंगा-वर्णन तथा 'चन्द्रावली' नाटक में यमुना वर्णन केवल बाह्य और परम्परानुसार ही है। प्राकृतिक वर्णन में इनका मन रमा ही नहीं। परन्तु इससे युग प्रवर्तक महान् साहित्यकार का महत्त्व कम नहीं होता। आपने जहाँ साहित्य परिष्कार किया, वहाँ अंग्रेजी के राज्य-काल में उर्दू के राज्य भाषा होने पर भी हिन्दी की अपंगता दूर कर उसे उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया।

प्रश्न २४—आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किन कविता संबंधी विशेषताओं के कारण 'साहित्य के नये युग के प्रवर्तक कहा। अपने विचार इस संबंध में प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी गद्य साहित्य और आधुनिक युग की साहित्य संबंधी विशेषताओं, विशिष्ट रूप से कविता के जन्मदाता कहे जाते हैं। हिन्दी गद्य साहित्य को आपने एक नवीन जीवन प्रदान किया। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण समाप्त हो जाने पर जब भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की भाषा को सुव्यवस्थित और परिमार्जित करके उसका स्वरूप स्थिर कर दिया तब से गद्य साहित्य की परम्परा लगातार चली। इस प्रकार भारतेन्दु जी जहाँ एक ओर वर्तमान गद्य भाषा के स्वरूप का प्रतिष्ठापन करने वाले थे, उसी प्रकार वर्तमान साहित्य के प्रवर्त्तक थे।

भारतेन्दु जी के काल में देश में नए-नए विचारों और भावनाओं का संचार हो गया था, परन्तु वह हिन्दी साहित्य में अभी तक नहीं आए थे। समाज में महान् परिवर्तन आ गया था, परन्तु साहित्य उसी पुरानी परम्परा पर चल रहा था। नवीन शिक्षा के प्रचार और पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी साहित्य का क्षेत्र संकीर्ण ही रह गया था। हिन्दी साहित्य युग के साथ नहीं बढ़ रहा था। हिन्दी साहित्य के इस कठिन काल में भारतेन्दु जी ने उसको उन्नति और उत्कर्ष की ओर अग्रसर किया। साहित्य में प्रेरणा और स्फूर्ति को इन्होंने जन्म दिया। साहित्य और जीवन का सम्बन्ध इन्होंने फिर से कर दिया।

भारतेन्दु जी ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा द्वारा नव जागृति, स्फूर्ति उत्पन्न की। नाटक, कविता, निबन्ध, इत्यादि सभी की ओर सम्यक् रूप से ध्यान दिया। इनका विशेष महत्त्व कविता तथा नाटक के क्षेत्र में नवीन विचारों की प्रतिष्ठा, रूढ़िवादी परम्परा के त्याग के कारण हैं। भारतेन्दु जी ने नवीन और प्राचीन का सामंजस्य स्थापित करके साहित्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

अत्यन्त ही सरस हृदय और सिद्ध वाणी के कवि के नाते हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में आपका विशेष स्थान है। इनकी कविता में भक्ति, शृंगार, देश भक्ति आदि सभी विषयों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनके मधुर और हृदयस्पर्शी कवित्त सवैये इन्हीं के समय में प्रसिद्ध हो गए और समाज के आनन्द का केन्द्र बने। आपने रूढ़िवादी परम्परागत शब्दावली को दूर करके काव्य भाषा का परिष्कार किया। व्यवस्था की व्यवहारिकता इनकी काव्य भाषा की सबसे बड़ी विशेषता रही है। उदाहरणस्वरूप---

"आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तो तुम्हारे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नहिं सबै फल आपने भाग को पावैं॥
हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चले चाहैं तासो सुनावैं।
प्यारे जू! है जग की यह रीति, विदा के समय सब कण्ठ लगावैं।

ब्रजभाषा का बड़ा ही सुन्दर और चलती भाषा का प्रवाहपूर्ण रूप आपने अपनी कविता को दिया। अपनी इसी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण भारतेन्दु एक ओर तो पद्माकर और द्विजदेव आदि प्रेमी भक्तों की श्रेणी में दिखाई पड़ते हैं और दूसरी ओर नवीन विचारधारा वाले मधुसूदन दत्त

और हेमचन्द्र जैसे बंगाली कवियों के वर्ग में।

भारतेन्दु जी ने समाज की समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाय उन्होंने बाह्याडम्बरी भक्तों के तिलक, छापों का उपहास किया और भर्त्स करी। विधवा विवाह, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा, पर्दे आदि समाज सुधार विषयों को उठाया। इससे पूर्व ऐसा नहीं हुआ था। काव्य का सम्बन्ध री काल से कवि के वैयक्तिक जीवन के संकीर्ण क्षेत्र से ही रह गया था। भारते ने व्यक्ति और समाज का फिर से सम्बन्ध दृढ़ किया।

भारतेन्दु जी द्वारा प्रवाहित कविता की नवीन धारा में सर्वप्रमुख स्वर दे भक्ति का ही था। भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों 'नीलदेवी' तथा 'भार दुर्दशा' में देश की दशा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी और मार्मिक चित्रण किया इसके अतिरिक्त अपने देश की तत्कालीन परिस्थिति का अत्यन्त करुण चि अपनी स्वतन्त्र कविताओं में रखा। इन कविताओं में इन्होंने देश के अती गौरव का चित्रण और वर्तमान पतन का चित्रण प्रस्तुत करके भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त की है। देश की दशा पर क्षोभ करते कहते हैं:

"हाय वहै भारत भुव भारी। सबही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद! हा पानीपत! अजहूं रहे तुम धरनि बिराजत॥"

अपनी कल्पना के कपाट खोलकर भारतेन्दु जी ने ऐसे दृश्य उपस्थि किए हैं कि हृदय क्षुब्ध होकर अपने भावों में मग्न हो जाता है।

'भारत दुर्दशा' इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध रचना है। इसमें आलस्य आदि को लेकर कवि ने देशदशा को इस ढंग से झलकाया है कि नई और पुरान दोनों ही विचारधारा के लोग आनन्द ले सकते हैं। उन्होंने प्राचीन आदर्श के भावों के आधार पर नवीन आदर्शों की सृष्टि की। नाटक 'नीलदेवी' में एक देवता के मुख से कितने मर्मभेदी शब्द भविष्य के सम्बन्ध मे कहलाए हैं—

"सब भांति दैव प्रतिकूल होय एहि नासा।
अब तजहु वर वीर भारत की सब आसा॥
अग सुख सूरज को उदय नहीं इति ह्वै हैं॥
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जै हैं॥"

नीलदेवी ने देश की लाज रखने के लिए भगवान को कितने करुण शब्दों में पुकारा है—

"कहं करुनानिधि केसव सोए ?
जागत नाहिं, अनेक जतन कर भारतवासी रोए ।।"

भारतेन्दु के महत्त्व के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं, "बड़ा भारी काम भारतेन्दु ने यह किया कि स्वदेशाभिमान, स्वजाति प्रेम, समाज सुधार आदि की आधुनिक भावनाओं के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्त इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया ।"

कविता करने के अथवा रचना के तीन विषय-क्षेत्र शुक्ल जी ने बताए— १. नर प्रकृति, २. बाह्य प्रकृति, ३. दोनों समान रूप से। इन क्षेत्रों में से हम भारतेन्दु जी को प्रथम क्षेत्र में रख सकते हैं। काव्य रचना ने नवीन संस्कार उत्पन्न करके भी उसके स्वरूप को परम्परानुसार ही रखा। इन्होंने मानव के अन्तःकरण को स्पर्श किया। मानवी वृत्तियों के मर्मस्पर्शी अंशों को आकृत करके इन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का प्रयत्न किया। इन्होंने प्राकृतिक वस्तु एवं व्यापारों पर कम ध्यान दिया; मनुष्य को लोकसामान्य स्तर पर इन्होंने नहीं देखा और न ही उसे जगत् के भौतिक संकीर्ण क्षेत्र से बाहर प्रकृति की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। प्राचीन कवियों की सी भावुकता इस काल के कवियों में नहीं थी। भारतेन्दु प्रकृति प्रेमी तथा प्रकृति उपासक नहीं थे। वह तो अपनी रचना का विषय जन समाज में ही बैठ कर प्राप्त करते थे। मनुष्य की बाहरी वृत्तियों को अंकित करने में इनकी विशेष रुचि थी। इनके नाटकों, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, को देखने से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा।

भारतेन्दु जी उर्दू कविता से तथा प्रवृत्ति से भी प्रभावित थे। उर्दू की काव्य भावनाओं को आपने हिन्दी में भी स्थान दिया। भावों का उत्कर्ष भारतेन्दु जी की विशेषता है परन्तु वस्तु वर्णन में भी प्रकृति चित्रण का सर्वथा अभाव इनके काव्य में है।

इन काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को लेकर भारतेन्दु की रचनाएँ आईं और उन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। समय के अनुसार नवीन प्रवृत्ति और संस्कारों को भारतेन्दु जी ने ग्रहण किया और उन्हें हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित किया। इसी नवीन और प्राचीन के सफल सामञ्जस्य के कारण और नवीन काव्य

उद्भावनाएं लाने के कारण भारतेन्दु 'युग प्रवर्त्तक' कहलाए। हिन्दी साहित्य में आपका गौरव अमर है।

प्रश्न २४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी गद्य साहित्य की भाषा की क्या स्थिति थी? संक्षेप में बताइये कि भारतेन्दु जी ने उसके सुधार के लि क्या किया?

उत्तर—हिन्दी साहित्य में गद्य का आरम्भ आधुनिक काल से ही मान जाता है। यद्यपि इससे पूर्व भी गद्य की रचनाएं प्राप्त होती हैं लेकिन खड़ी बोली में नहीं, वह ब्रज भाषा में हैं। वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठल नाथ जी का शृंगार मंडन ऐसा ही ग्रंथ है। इसके पश्चात् 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता,' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' इसी प्रकार के ग्रंथ हैं नाभादास के अष्टयाम के पश्चात् 'नासिकेतोपाख्यान' महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध ग्रंथ हुआ। सूरति मिश्र की 'बैताल पचीसी' तथा लाला हीरालाल की 'आईने अकबरी की भाषा वचनियां' इन ग्रंथों में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इन ग्रंथों की भाषा अनगढ़, अव्यवस्थित थी।

वास्तव में हिन्दी गद्य का आरम्भ मुसलमानों द्वारा प्रचलित खड़ी बोली से ही हुआ। आदिकाल के अमीर खुसरो के समय से ऐसी बोली किसी न किसी रूप में चली आ रही थी। इस धारा में रामप्रसाद 'निरंजनी' का 'भाषा योगवसिष्ठ' ग्रंथ बड़ी साफ और सुव्यवस्थित खड़ी बोली में लिखा गया। इस परम्परा में हिन्दी गद्य का आरम्भ अथवा सूत्रपात करने वाले चार महानुभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वह क्रमशः इस प्रकार हैं, मुन्शी सदासुखलाल, इशां अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों व्यक्ति सं० १८६० के लगभग वर्तमान थे। इन्होंने एक साथ हिन्दी गद्य को बढ़ावा दिया। यह ठीक है कि इन चारों लेखकों ने हिन्दी गद्य साहित्य को जन्म दिया और इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा गद्य के नमूने उपस्थित किए। परन्तु इनमें से कोई ऐसा नहीं बढ़ा जो इस योग्य होता कि 'युग प्रवर्त्तक' कहलाता। इन्होंने हिन्दी गद्य को कोई पथ, आदर्श नहीं दिखाया; उसका मार्ग निर्देशन नहीं किया।

यह परम्परा इन चार गद्य स ृत्य ९ स्तम्भों के ७०-७२ वर्ष पश्चात् चालू हुई। वास्तव में विक्रम की २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण से भारतेन्दु ने इसे चलाया। इन उपर्युक्त चारों व्यक्तियों के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह

और राजा शिवप्रसाद सिंह हुए। राजा लक्ष्मणसिंह ने अपना शकुन्तला नाटक सं० १९१९ में लिखा जिसकी भाषा संस्कृत मिश्रित शुद्ध हिन्दी थी। राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में इस भाषा को कुछ अंशों तक ग्रहण किया। परन्तु इसके बाद राजा शिवप्रसाद उर्दू से प्रभावित हो गये। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे। इन दो महान् साहित्यकारों के मतभेद से हिन्दी गद्य साहित्य की भाषा में हिन्दी और उर्दू की एक समस्या उत्पन्न हो गई। भाषा के रूप को एक स्थिरता मिलने के स्थान पर खींच-तान आरंभ हो गई।

पूर्वकथित चारों महानुभावों की भाषा आदर्श नहीं थी, वह दोषपूर्ण थी, इस कारण यह परिमार्जन होने के पश्चात् ही ग्रहण करने योग्य हो सकती थी। मुन्शी सदासुखलाल और सदल मिश्र ने व्यवहार योग्य चलती हुई भाषा का नमूना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था। परंतु उस नमूने में, उस भाषा में सफाई नहीं थी, निखार नहीं थी। मुन्शी सदासुखलाल की भाषा के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं, 'वे एक भगवद् भक्त आदमी थे। अपने समय उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर पूरबी प्रांतों में भी प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।''[1] मुन्शी जी देहली के रहने वाले थे परंतु भाषा में पण्डिताऊपन था, साहित्यिकता कम थी। इसके पश्चात् सदल मिश्र आते हैं। इनकी भाषा पूरबीपन का प्रधान्य लिए हुए थी। शुक्लजी इनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं, "लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परम्परागत काव्य भाषा की पदावली का स्थान-स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा साफ-सुथरी नहीं है'[2] शुक्लजी ने हिन्दी गद्य के सम्बन्ध में इन्हीं दो को अधिक महत्त्व दिया है। शुक्लजी लिखते हैं, "गद्य की एक साथ परम्परा चलाने वाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुन्शी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में ही

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४१५

२. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ४२२

मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है।"[१]

इनके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी का पूर्ण पक्ष लेकर चले। इन्होंने जो आदर्श अपनाया था वह संकुचित था, वह एक चलती व्यावहारिक भाषा के उपयुक्त न था। जनता उर्दू-फारसी के शब्दों को नित्य व्यवहार में लाती थी, इस कारण उनका त्याग बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक चुभने वाली बात इनकी भाषा में थी आगरे की बोलचाल का पुट। इनके साथ ही राजा शिवप्रसाद हुए। इनकी भाषा में उर्दू का प्रयोग खटकता था। यह 'आम-फहम' और 'खास पसन्द' भाषा का उपदेश देते थे। इस प्रकार इनकी भाषा में उचित सामंजस्य नहीं था। इस प्रकार ये सभी किसी न किसी तरह प्रान्तीयता में उलझे हुए थे :

इनके पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस क्षेत्र में आये। इससे पूर्व हिन्दी गद्य साहित्य को उपयुक्त और योग्य साहित्यिक प्राप्त नहीं हुआ था जो भाषा की गड़बड़ ठीक करता। भारतेन्दु का भाषा तथा साहित्य दोनों ही वस्तुओं पर परिवर्तनशील प्रभाव पड़ा। आदर्श परम्परा की स्थापना का श्रेय भारतेन्दु जी को ही प्राप्त है, इसी कारण यह 'युग-प्रवर्त्तक' कहलाये। इन्होंने हिन्दी गद्य का संस्कार किया। यह प्रान्तीयता, अन्य वादों या संकीर्ण विचारों से प्रभावित नहीं थे। इन्होंने सामंजस्य की नीति ग्रहण की। इन्होंने भाषा- का परिष्कार करके उसे जनसाधारण के व्यवहारोपयोगी, सुन्दर, सरल रूप प्रदान किया। इनकी भाषा संस्कृत शब्दों के रहते भी सरल थी, फारसी-अरबी के शब्द प्रयोग होने पर भी उर्दू का प्रभाव नहीं था।

भारतेन्दुजी का भाषा संस्कार शब्दों मे भी कांट-छाँट तक ही सीमित नहीं था। यह वाक्य विन्यास में सफाई और सुसम्बद्धता भी लाये। इन्होंने पुराने, भाषा में प्रयुक्त न होने वाले शब्दों का त्याग कर दिया। सबसे अधिक इनका ध्यान भाषा की सफाई पर गया और उसको इन्होंने परिष्कृत, शिष्ट-सामान्य रूप प्रदान किया। कविता में से पुराने शब्दों को हटाकर उसमें चलतापन लाए। इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतेन्दु अपने युग में विख्यात हो गए। इनके काव्य का अत्यन्त ही व्यापक प्रचार इनके जीवन काल में ही हो गया।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—लेखक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४२२

भारतेन्दु ने हिन्दी भाषा और इसके साहित्य को आधुनिक युग के साथ नवीन भावनाओं और विचार धाराओं के साथ चला दिया। जीवन और साहित्य की विलगता को दूर करके नई रुचि और भावनाओं की प्रतिष्ठा की। इसी कारण यही हिन्दी गद्य के प्रवंतक कहलाए। वास्तव में भारतेन्दु ने भाषा के स्वरूप की समस्या का समाधान करके हिन्दी भाषा का महान् उपकार किया जिसके लिए हिन्दी साहित्य सदैव इनका ऋणी रहेगा।

— —

१३. तुलसी का भक्ति मार्ग

प्रश्न २६—आचार्य शुक्ल के अनुसार भक्ति की व्याख्या कीजिए। तुलसी की भक्ति संबंधी शुक्ल जी की धारणाओं का विवेचन कीजिए।

उत्तर—राम के परम भक्त तुलसी में अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम और दैन्य का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। तुलसी का यह भक्तित्व किसी भी हृदय को स्वच्छ और निर्मल कर देने के लिए पर्याप्त है। क्योंकि यहाँ इष्टदेव के प्रति श्रद्धा का पूज्य भाव ही नहीं और भक्ति का प्रेम भाव ही नहीं अपनी दीनता और लघुता का भाव भी इसे अधिक रसात्मक बनाने के निमित्त विद्यमान होता है। तुलसी की भक्ति में इन गुणों के साथ शील, शक्ति तथा सौंदर्य का सम्मिश्रण होने से शुक्ल जी के अनुसार भक्ति-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। तुलसी की भक्ति में संत, महात्मा, संन्यासी के आत्म परिष्कार, मोह, माया, कोध की मलिनता से रक्षार्थ जहाँ साधन उपलब्ध हैं वहाँ साधारण गृहस्थों को उनकी नित्यजीवन क्रियाओं में ही आनन्द प्राप्ति आत्मविशुद्धता के साधनों के साथ ही धर्म, नीति के भाव प्राप्त हो जाते हैं।

तुलसी की भक्ति की श्रेष्ठता यह है कि इसमें एकांकी भाव न होकर सर्वांगी भाव है, इससे जीवन में शक्ति, सरसता प्रफुल्लता, पवित्रता सब ही वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। अपने इष्टदेव राम के लोक-रंजनकारी रूप में इन्होंने सौंदर्य, शक्ति, शील का समन्वय किया है जो सहज रूप से मानव हृदय को आकर्षित कर लेता है।

शुक्ल जी सूर और तुलसी को उपदेशक न मानकर अपनी प्रेम भवना और प्रतिभा के आधार पर नित्य जीवन व्यापार में भगवान् की मनोहारी मूर्ति स्थापित करने वाले मानते हैं। हमारे भक्ति-मार्ग में, सूर, तुलसी के इष्टदेव में नीरसता और शुष्कता नहीं बल्कि सरसता और माधुर्य की अनूठी शोभा है

तुलसी ने संकीर्णता, साम्प्रदायिकता को दूर किया जिन्होंने ज्ञान और भ को विच्छिन्न कर दिया था। ज्ञान के उपदेश भक्ति की साहयता के बिना के मर्म को स्पर्श नहीं कर सकते। भक्ति तो हृदय का विधान है और भ नाओं का विकास भी हृदय द्वारा ही होता है। तुलस जी उपदेश, वाद, या को जीवन कल्याण के लिए पर्याप्त न समझकर "वाक्य ज्ञान" मात्र समझते वाक्य ज्ञान तथा अनुभूति विभिन्न वस्तुएँ हैं। यही कारण है कि प्रा परम्परा के भक्त लोग उपदेश और तर्कवाद की तुलना में अपने इष्टदेवों के कीर्तन तथा श्रवण में अधिक रुचि रखते हैं।

प्राचीन भागवत् सम्प्रदाय द्वारा भगवान के उस लोकरंजनकारी रूप प्रतिष्ठा हुई जिसका अवलम्बन ग्रहण करके मानव हृदय स्वयं ही द्रुतगति कल्याण मार्ग को ग्रहण कर लेता है। तुलसी ने भी राम का शील और से युक्त मनोहारी और अनोखा रूप प्रस्तुत किया। इसमें तुलसी की लोक-कल्य की सरस और मधुर भावना थी। तुलसी ने लोक-धर्म को सदैव ही लक्ष्य रखा। मानव का हृदय कभी तो राम के शील से आकर्षित होता कभी उसकी शक्ति वीरता से प्रभावित होता है और कभी उनके सौंदर्य सरस छटा से गद्गद् हो उठता है। इसी कारण तुलसी का भक्ति क्षेत्र, कबी और दादू जैसे उपदेशक और ज्ञान पंथियों से पूर्णतया भिन्न है।

तुलसी हृदय को स्पर्श करके भावों द्वारा मनुष्य में शील और सदाच के संस्कार उत्पन्न करते थे। जो तुलसी के राम के शील, शक्ति, सौंदर्य प्रभावित और आकर्षित नहीं हो सकता, उसके हृदय की कटु प्रकृति नष्ट नह हो सकती।

भक्त हृदय में भगवान के उस अलौकिक, भव्य मधुर रूप को सम्मु रखकर जब अपनी भौतिक विषय विकारों से लिप्त स्थिति पर विचार कर है तो विभिन्न प्रकार की आत्मग्लानि, आशा, निराशा, उत्साह दैन्य की भाव नाएँ उठती है। भगवान के महत्त्व की जितनी गहन अनुभूति होगी, उसकी भावनाएँ उतनी ही विकसित होगी और वह अपनी दैन्यता, लघुता को उ विराट रूप में ही विलीन होना अनुभव करेगा। तुलसी की विनय पत्रि में इन्हीं भावनाओं को प्रस्तुत किया गया है। तुलसी की भक्ति क मूल आधारभूत तत्त्व है इष्ट के महत्त्व की अनुभूति। इसी भाव को तुलसी

ने बड़े सुन्दर सरल शब्दों में व्यक्त किया है—

राम सो बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?

इस प्रकार प्रभु का महत्त्व अनुभव होते ही भक्त अपनी लघुता तथा प्रभु की महत्ता का वर्णन करने में एक हार्दिक आनन्द प्राप्त करता है। अपने अवगुणों, दोषों, पापों, हीनता का वर्णन करके तथा प्रभु की भक्तवत्सलता, कृपालुता का वर्णन करके एक आत्म सन्तोष, तृप्ति का अनुभव करता है।

लोगों की समान्य प्रवृत्ति के अनुसार व्यक्ति अपने दुर्गुणों, पापों, दोषों को छिपाना चाहता है परन्तु भक्त उनको बढा-चढ़ाकर अपने इष्ट प्रभु के सम्मुख रख-दीनतापूर्वक प्रार्थना करता है। भक्त का और भगवान का दुराव कैसा। उस परम महत्त्व से निकटता अनुभव होने के कारण भक्त उसी में अपना अस्तित्त्व लीन कर देना चाहता है, यही भक्त के भाव हैं। जितना वह प्रभु के निकट आता है उतना ही अनन्त रूपराशि के अनुभव से पुलकित होता है। कवि प्रभु की असीम शक्ति की झलक पाकर भक्त का हृदय आश्चर्य और उत्साह से भर जाता है फिर उनका शील देखकर अपने कर्मों पर दुःखी होता है और प्रभु की दया देखकर हृदय को सन्त्वना देता है। भक्त और भगवान के मघ्य का आवरण दूर हो जाने पर भक्त कभी-कभी प्रभु को मीठा उपालम्भ भी देता है।

भक्ति में प्रतिदिन की भावना. अथवा भक्ति के वदले में कुछ मिलने की कामना करके आनन्दित होता रहता है।

तुलसी जी के जीवन वृतान्त का उदाहरण देकर शुक्ल जी इस ओर हमारा ध्यान आर्कषित करते हैं कि तुलभी राम की भक्ति इस कारण नहीं करते कि वह अवतार हैं, राम भक्ति में तुलसी ने इस बुद्धि-निर्णय को स्थान नहीं दिया। तुलसी को राम प्रिय लगते हैं यही उनकी भक्ति का कारण है। चातक जिस प्रकार मेघ को देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार तुलसी राम के लोकरंजनकारी रूप पर मुग्ध है। उनके हृदय की धारा स्वभावतः राम के अनन्त सौंदर्यपूर्ण सरस सागर की ओर वह निकली।

भक्त की यही तीव्र अभिलाषा रहती है कि उसके प्रभु के अनन्त शील,

सौंदर्य, शक्ति की भावनायें संसार में निरन्तर व्याप्त रहें। पापी सुगति प्राप्त करने में प्रभु की शक्ति का चमत्कार समझता है। ऐसा होने पर उसे प्रभु की शक्ति में बाधा होने का पश्चात्ताप होता है सुगति प्राप्त न होने का नहीं। प्रभु का सर्वव्यापकता का ध्यान करता-करता भक्त समस्त संसार को उसी महत्सत्ता में लीन देखने लगता है, भिन्न भावानुभूति की स्थिति नष्ट हो जाती है। ज्ञान किसी तथ्य को बुद्धि तक तर्क द्वारा ला सकता है परन्तु हृदय को अनुभूति नहीं करा सकता। भक्त अनुभूति द्वारा उस अवस्था में पहुँच जाता है जाता है जहाँ वह जगत से एकाकारिता का अनुभव करता है।

प्रश्न २७—तुलसी जी की भक्ति सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये और यह बताइए कि काव्य पर शुक्ल जी उसका क्या प्रभाव समझते हैं।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास राम के अन्य उपासक के रूप में समस्त हिन्दी भक्ति साहित्य में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने ईष्टदेव को अत्यन्त ही सुन्दर, और शीलपूर्ण प्रस्तुत किया, जिससे जन-सामान्य के हृदय में भी उनके प्रति भक्त भावना का उदय हो। राम का यह समन्वित रूप किसी भी मानव हृदय को आकर्षित करने की पूर्ण क्षमता रखता है। यह इस बात को स्पष्ट करती है कि तुलसी एक सरस हृदय भक्त थे, कोरे शुष्क उपदेशक नहीं। यही कारण है कि भारतीयों में राम के मधुर सरस रूप को अत्यन्त ही श्रद्धापूर्वक देखा जाता है। शुक्ल जी लिखते हैं, "गोस्वामी जी के भक्त क्षेत्र में शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मकता का प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिये मैदान पड़ा हुआ है।" इसका कारण यह है कि गोस्वामीजी ने भगवान के अनन्त सौंदर्य का साक्षात्कार किया और उन्हें उसके अन्दर शील और शक्ति की झलक दिखाई पड़ी जिसके द्वारा संसार में आनन्द का प्रसार होता है। इसी कारण तुलसीदास जी कहते हैं—

"सुनि सीतापति शील सुभाऊ।

मोद न मन-तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाऊ ॥

तुलसी जी के भक्ति मार्ग की एक बड़ी विशेषता यह सरसता है। इसी हृदय पद्धति के द्वारा मनुष्य में शील और सदाचार का संस्कार जमाया जा सकता है। भक्ति का सबसे बड़ा मूल तत्त्व है—इष्ट के महत्त्व की पूर्ण अनुभूति। अपनी भावना तुलसी जी इस सम्बन्ध में इस प्रकार रखते हैं—

"राम सों बड़ो है कौन मोसों कौन छोटो ?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो ?"

इन पंक्तियों से तुलसी की भक्ति सम्बन्धी दूसरी विशेषता का ज्ञान होता है। वह है प्रभु के सम्मुख अपनी तुच्छता, लघुता का अनुभव होना। भक्त प्रभु के सम्मुख असमर्थ है, निर्बल है। तुलसी ने अपनी भक्ति में दैन्य की भावना को बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भक्त को इष्टदेव की अनन्त पवित्रता और शील की तुलना में अपना सब ही कुछ दोषपूर्ण और पापपूर्ण दिखाई पड़ता है। इस दैन्य के भाव भगवत्कृपा की इच्छा से भक्त प्रभु के सम्मुख अपने दोषों, पापों का विस्तृत वर्णन करता है। इस प्रकार का मुक्त हृदय वर्णन मानव को अत्यन्त ही सन्तोष प्रदान करता है इस स्थिति में अहंकार का लोप हो जाता है, छल, कपट, मोह, माया सभी दूर रह जाते हैं। वास्तव में यह तत्त्व भक्ति के चरम लक्ष्य पर भक्त को पहुँचा देते हैं। शुक्ल जी के विचारानुसार "दैन्य भक्तों का बड़ा भारी बल है।"

तुलसी की भक्ति की एक अन्य विशेषता यह है कि वह साम्प्रदायिकता और संकीर्णता से दूर है। तुलसी ने सभी वादों तथा विचारों का समन्वय करने का भरसक प्रयत्न किया है। राम और शिव में अखण्ड अनन्त सम्बन्ध है। तुलसी ने सभी अन्य देवताओं का भी भगवान राम से सम्बन्ध बांधा है। यह भक्ति मार्ग एकांगीदर्शी और एकदर्शीय नहीं है। यह संसार के प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही मार्गों को ग्रहण करता है। वास्तव में तुलसी की भक्ति में एक महान सामंजस्य प्राप्त होता है। उपदेश वाद या तर्क गोस्वामी जी के अनुसार "वाक्य ज्ञान" मात्र कराते हैं जिससे जीव कल्याण का लक्ष्य पूरा नहीं होता। जहाँ संकीर्ण विचारों के कारण ज्ञान और कर्म को अलग-अलग कर दिया गया था तुलसी जी ने उनका एकीकरण कर दिया। इसके साथ तुलसी जी ने अपनी भक्ति-पद्धति में यह स्पस्ट किया कि ज्ञान और भक्ति में यही अन्तर है कि ज्ञान में उपदेश बुद्धि को प्रेरित करता है और भक्ति हृदय का विधान है। उपदेश ज्ञान को भक्ति की अपेक्षा हृदय में जमाना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। इस प्रकार तुलसी ने भक्ति में ही साम्प्रदायिक, सामाजिक तथा दार्शनिक विचारधारा को स्पष्ट किया।

तुलसी ने भक्त और भगवान् का सामीप्य स्थापित करने की चेष्टा की परन्तु अहं को दूर ही रखा है। क्योंकि अहं भाव से भक्ति नष्ट हो जायगी।

तुलसी के अनुसार तो भक्त अपने लघुत्व का अनुभव भगवान् के समीप्य में करके उनके महत्त्व में लीन कर देता है। तुलसी की भक्ति की विचारधारा में भक्त भक्ति का फल भक्ति में ही चाहता है अन्य किसी रूप में नहीं। भक्त भक्ति के बदले स्वर्ग या मुक्ति की कामना नहीं करता। भक्त का अपने आपको भगवान के ही प्रेम में, भक्ति में लीन कर देना ही उसकी सबसे बड़ी सिद्धि है। इसके अतिरिक्त तुलसी का भक्त भगवान् की मर्यादा रक्षा के प्रति सदैव ही सतर्क है। भक्त धीरे-धीरे प्रभु की व्यापकता का प्रयत्न करते-करते अपने साथ-साथ समस्त संसार को उस एक अपरिच्छिन्न सत्ता में लीन होते देखने लगता है और बाह्य दृश्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं रह जाता है। यह अनुभूति या भक्ति मार्ग बहुत दूर तक तो लोक-कल्याण की व्यवस्था करता दिखाई देता है, परन्तु इससे आगे बढ़ने पर वह निस्संग साधक का सब भेद से भर ले जाता है।

तुलसी की भक्ति में रस सम्बन्धी काव्य शास्त्रीय विधान है, सैद्धान्ति लक्ष्य हैं, राम रूपी शील, सौन्दर्य और शक्ति सम्पन्न आलम्बन, भक्त रूपी आश्रय को तो प्रभावित करता है। परन्तु आश्रय (भक्त) की चेष्टाएं, उनके अनुमान लोक हृदय को भी उसी रस में, उसी भाव में मग्न कर देते हैं। सहृदय (लोक-हृदय) को उससे आनन्द, रसास्वाद होता है। इसके साथ ही सहृदय को मुक्त अवस्था की प्राप्ति भी हो जाती है। उसका सहृदय संसार के समस्त विषय-विकारों, योग-क्षेत्र, हानि-लाभ सुख-दुख से असम्बद्ध हो जाता है। वह उस उत्कृष्ट काव्य भावना द्वारा भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाता है। यही चरम लक्ष्य तुलसी के भक्ति मार्ग का है और यही काव्य का अथवा कविता का चरम लक्ष्य है। इस कारण तुलसी की भक्ति पद्धति अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखती है।

प्रश्न ८—मानस की धार्मिक पृष्ठभूमि व्यापक और पूर्ण है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

या

'रामचरित मानस' में, तुलसी ने जिस पूर्ण धर्म को अपनी भक्ति-भावना में स्थान दिया है, उसका परिचय दो ?

उत्तर—धर्म वह अनुभूति है जिसके द्वारा मानव इस समस्त चराचर में व्याप्त असीम सत्ताधारी भगवान के रूप का अनुभव करता है, उनके सत्स्व

का आभास प्राप्त करता है। शुक्ल जी धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति कहते हैं। मनुष्य सत्यस्वरूप को जीवन के विभिन्न अंगों—समाज, परिवार, समस्त प्राणियों में प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वास्तव में वह इन सभी वस्तुओं में उसका अनुभव करता है। भगवान् के इस स्वरूप को हम जितने व्यापक और विस्तृत क्षेत्र में अनुभव करते हैं उतनी ही अधिक भगवत्स्वरूप की अनुभूति हमें होती है। उदाहरणार्थ जब कोई अपना क्षेत्र कुल विशेष तक ही सीमित रहता है तो उसे कुल देवता तक ही अनुभूति होगी। उस देश अथवा जाति में प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे तो भावना देश के अथवा जाति के नेता अथवा उपास्य देव तक ही पहुँच पायेगी। परन्तु भक्त की भावना इतने से ही सन्तुष्टि नहीं हो जाती, वह समस्त संसार में परमात्मा का अनुभव करना चाहता है। भक्त के हृदय का चित्त बाह्य संसार में सत् का साक्षात्कार करके आनन्द प्राप्ति करता है। हर दिशा में जब भक्त भगवान् का ही रूप देखता है तो दोनों के मध्य का भेद-भाव नहीं रहने पाता। तुलसी 'राम' का अनुभव केवल अपने चित्त में ही नहीं करते वह तो उनका प्रसार समस्त विश्व में देखते हैं। इसी कारण उन्होंने कहा है 'अन्तरजामिहु ने बड़ बाहर-जामी'।

आचार्य शुक्ल ने भगवान् के साक्षात्कार को विचार में रखकर धर्म की पाँच श्रेणियां रखी हैं—गृह धर्म, कुल धर्म, समाज धर्म, लोक धर्म तथा विश्व धर्म। इन सब धर्मों में जन समूह के कल्याण को दृष्टि में रखने वाला विश्व धर्म ही उच्चकोटि का है। यही पूर्ण धर्म है। जिस व्यक्ति का जितना व्यापक क्षेत्र होगा उतना ही उसका धर्म स्तर होगा। देश, समाज की संकीर्ण सीमाओं से निकल ही पूर्ण धर्म जो केवल पुरुषोत्तम भगवान् में विद्यमान है, भक्त उसका अनुभव करता है। अपनी इस अनुभूति को भक्त दूसरों के हृदय में उतारने को व्याकुल रहता है। धर्म की श्रेणियाँ और उनका पालन दोनों भिन्न वस्तुएं हैं। उच्च से उच्च धर्म का आचरण अत्यन्त ही साधारण कोटि का हो सकता है और इसी भाँति निम्न कोटि के धर्म का आचरण उच्चतम कोटि का हो सकता है। गरीबों का शोषण करने वाले बड़ा दान पुण्य करते दिखाई देते हैं और कुछ भी दान-पुण्य न करने वाले डूबते व्यक्ति की रक्षा के लिए जान पर खेल जाते हैं।

रामभक्त तुलसी ने उपर्युक्त पूर्ण धर्म को ही अपनी भक्ति का विषय

बनाया है। उनके पुरुषोत्तम भगवान् राम पूर्ण धर्म के प्रतीक और सहायक हैं। राम में पूर्ण धर्म का आभास उनके विश्व की स्थिति और रक्षा के कार्यों में प्राप्त होता है। तुलसी की भक्ति भावना उन भक्तों से भिन्न है जो ब्रह्म के स्वरूप को अपने अन्तःकरण में ही खोजते हैं।

धर्म द्वारा ही मानव को विकास और मोक्ष प्राप्त होता है और धर्म का विकास हमारे नित्यप्रति के जीवन व्यवहारों में होता है। हमारे इन व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। इस प्रकार जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान तथा भक्ति तीनों के एकीकरण में ही है। साधक को साधना पूर्ण सत्ता के साथ करनी चाहिये, उसमें चाहे तो ज्ञान को प्रधान मानकर धर्म और उपासना को अंगरूप लेकर चले चाहे भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अंग रूप में रखकर चले। भक्ति मार्गी तुलसी में तीनों का अन्श होते हुए भी अधिकांश मात्रा धर्म की ही है।

तुलसी की सर्वश्रेष्ठ विश्वविख्यात रचना रामचरित मानस में धर्म की विभिन्न भूमियाँ होते हुए भी विश्व धर्म ही प्रधान है। परन्तु भरत तथा विभीषण जैसे चरित्रों को लेकर कभी-कभी शंकाएं उठ पड़ती हैं। तुलसी ने भरत के चरित्र को आदर्श तथा लोक कल्याणकारी रूप में प्रस्तुत किया है। भरत जब माता को कठोर वचन कहता है तो लोगों के हृदय उनके आदर्श चरित्र को शंकापूर्ण दृष्टि से देखने लगते हैं। परन्तु इसका उत्तर हमें तुलसी के धर्म की व्याख्या में मिल जाता है। जब भक्त भरत राम अर्थात विश्व धर्म का, पुरुषोत्तम का तिरस्कार अपनी माता द्वारा देखते हैं तो वहाँ क्रोध करना स्वाभाविक ही है। उनकी दृष्टि में राम का विरोध और धर्म का विरोध एक ही बात है। इस धर्म विरोध के परिणामस्वरूप कितनी ही दुखद दुर्घटनाएं सामने आती हैं। राम, सीता, लक्ष्मण का वनगमन, दशरथ की मृत्यु, प्रजा में शोक आदि। भरत ने संकीर्ण धर्म रूप का त्याग करके व्यापक धर्म रूप को ग्रहण किया था। राम भरत के प्रिय हैं। महाकाव्य में जब धर्म पर आघात होता है तो पाठक क्षुब्ध होकर आघात करने वाले को दंडित देखना चाहते हैं। उस आघात करने वाले को दंडित देखकर ही वह सन्तुष्ट होते हैं। यही दशा भरत और कैकेयी की है। भरत के धिक्कारने पर ही कैकयी को अपने कुकर्म पर आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। इस उदाहरण से तात्पर्य यह है कि जब व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना हो तो

परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं है।

विभिषण का चरित्र इसका दूसरा उदाहरण है जिसे गृह नीति या कुल धर्म का उल्लंघन करने के कारण घर का भेदिया तथा भ्रातृद्रोही कहा गया। ऐसे चरित्र को भक्त श्रेणी में बिठाते समय तुलसी जी की दृष्टि संकुचित न होकर विश्व धर्म की ओर थी। लोक पीड़क रावण तथा उसके सहयोगियों से विभीषण अलग दिखाया गया है। सीता-हरण पर रावण अधर्म की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। ऐसे ही समय साधु जीवन व्यतीत करने वाले विभीषण को हनुमान से भगवान् के अवतार का ज्ञान होता है तथा उसमें विश्व धर्म की भावना जाग्रत हो जाती है। रावण उसके प्रार्थना करने पर भी अधर्म से न हटकर उसका तिरस्कार करता है। भक्त धर्म को नष्ट होते नहीं देख सकता। वह पूर्णधर्म भगवान् में आस्था रखकर लोक कल्याण विधायक धर्म का अवलम्बन करता है। इसी भावना से विभीषण धर्म मूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है।

तुलसी की भांति शुक्ल जी के विचार तथा सिद्धान्त लोक कल्याण भावना से ओत-प्रोत हैं। वह उसी काव्य तथा साहित्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जो सामूहिक कल्याण को लक्ष्य करके चलें। तुलसी के मानस में आपको अपने आदर्शों का पूर्ण रूपेण पालन प्राप्त होता है।

प्रश्न २९—तुलसी के मानस की किन-किन धार्मिक भावनाओं से आचार्य शुक्ल प्रभावित हैं। स्पष्ट कीजिए।

अथवा

मानस में प्रतिपादित धार्मिक विचारधारा का विवेचन कीजिये।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरित मानस, भारतीय साहित्य और विश्व-समाज का एक अमूल्य रत्न है। रागात्मक प्रवृति वाला सर्वश्रेष्ठ भारतीय हिन्दी साहित्य का ग्रन्थ यही है। लोक समाज को इसने सर्वाधिक प्रभावित करके अपना श्रद्धापूर्ण और विशिष्ट स्थान समाज में बना लिया। रामचरित मानस एक धार्मिक अथवा धर्म प्रधान ग्रन्थ है। इसमें धर्म का आदर्श और सत्य रूप प्रस्तुत किया गया है। तुलसी जी इस ग्रंथ में कितनी धार्मिक भूमियों की झांकियाँ मिलती हैं। मुख्य रूप से तुलसी ने अपने विचारधारा के अनुसार धर्म के विभिन्न परिस्थितियों के रूपों को प्रस्तुत किया है।

भक्ति और धर्म का अभिन्न सम्बन्ध है। शुक्ल जी कहते हैं "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।" वास्तव में मानस में जो धर्म के रूप प्रतिष्ठित किये गये हैं वे तुलसी की भक्ति सम्बन्धी विचारधारा से प्रवाहित हैं। ईश्वर के सतस्वरूप के प्रति भक्ति श्रद्धा और पूज्यभाव रखता है, वह उसे सर्वश्रेष्ठ समझता है। वह अपनी भक्ति भावना को प्रावल्य के कारण साधारण रूप से समस्त जगत को उसी ब्रह्म के सत्यरूप से प्रकाशित देखना चाहता है। वह सर्वत्र उसी का आभास अनुभव करता है। इस सत्स्वरूप में पूज्य तथा आदरभाव की स्थापना को वह भक्ति-धर्म मानते हैं, मानव जीवन का यही आदर्श समझते हैं। जब भक्त का आन्तरिक 'चित्त' बाहर सत् से दर्शन करता है तो वह आनन्दावस्था को प्राप्त करता है। इसी कारण तुलसी कहते हैं "अन्तर जामिहु ते बड़ बाहर-जामी"। तुलसी ने अपनी भक्ति-भावना राम में निहित की है।

रामचरित मानस एक उच्चकोटि का धार्मिक ग्रन्थ है जो कि हर प्रकार के पात्रों, अच्छे-बुरे, ऊँचे-नीचे, बालक-वृद्ध, युवक, स्त्री-सेवक, भक्त, माता पिता सभी से परिपूर्ण है। प्रत्येक पात्र का चरित्र एक विशिष्टता लिये है। वह धर्म की किसी न किसी कोटि का, किसी न किसी भूमि का प्रतिनिधि है। इन विभिन्न पात्रों द्वारा ही धर्म की विभिन्न भूमियों को व्यावहारिक रूप में प्रदर्शित किया गया है। शुक्ल जी तुलसी की भक्ति और धार्मिक भावना के सम्बन्ध में लिखते हैं "तुलसीदास जी भक्ति को प्रधान रखकर चलने वाले अथवा भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति भावना में यद्यपि तीनों का योग है पर धर्म का योग पूर्ण परिमाण में है। धर्म-भावना का उनकी भक्ति-भावना से नित्य सम्बन्ध है।

तुलसी की धार्मिक भावना की सर्वश्रेष्ठ विशेषता जिसका मानस में प्रतिपादन है और जिससे शुक्ल जी प्रमुख रूप से प्रभावित हैं, वह यह है कि उन्होंने मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म के क्षेत्र को ग्रहण किया है। उनका धर्म विश्व-धर्म है, लोक धर्म है। वह परिवार, विशिष्ट समाज या राष्ट्र तक सीमित न होकर अनन्त रूप में समस्त जगत को अपना लक्ष्य और क्षेत्र बनाए हुए है। वही धर्म सर्वोच्च कोटि का है जो विस्तृत जन समूह के कल्याण से सम्बन्ध रखता हो। शुक्ल जी ने धर्म के कई छोटे-बड़े क्षेत्र बताए हैं जैसे गृहधर्म, कुलधर्म समाजधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। इ

विभिन्न प्रकार के धर्मों में से तुलसी ने विश्वधर्म या पूर्णधर्म को चुना। शुक्ल जी भी इस धर्म के प्रतिपादक हैं। वह प्रत्येक वस्तु की कसौटी पूर्ण धर्म को ही मानते हैं। जितना अधिक विस्तृत धर्म का क्षेत्र होगा उतनी ही व्यापकता सत्व भाव की संसार में होगी। विश्वधर्म के अतिरिक्त अन्य समस्त धर्म संकीर्ण हैं और स्वार्थ भावना से प्रभावित रहते हैं। धर्म के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल इस प्रकार लिखते हैं, धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक धर्म से विश्व धर्म जिससे धर्म अपने अशुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग, पूर्ण धर्म जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति रक्षा से, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है।"

मानस में तुलसी जी भक्तों तथा समाज सम्मुख पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त की भांति लाए हैं। तुलसी के राम पूर्णधर्म स्वरूप हैं। उनके चरित्र में अथवा लीलाक्षेत्र में इतनी अधिक व्यापकता है कि धर्म के समस्त रूपों का प्रकाश वहां दिखाई देता है। रामचरित मानस में धर्म के इन वैविध्यों के कारण ही कभी-कभी शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह ज्ञात करना कि कौन पात्र धार्मिक भावना सम्पन्न है और कौन अधर्मपूर्ण है परिस्थितियों को देखते हुए अत्यन्त ही कठिन बन जाता है।

भरत का चरित्र मानस का एक आदर्श और महत्वपूर्ण चरित्र है। वह आदर्श धर्म का प्रतीक है। उसकी महान् त्याग की भावना ने उसके महत्त्व को द्विगुणित कर दिया है। परन्तु यही राम का परम भक्त तथा कनिष्ठ भ्राता भरत जब अपनी माता का कठोर वचनों द्वारा अपमान करता हुआ दिखाई देता है तो प्रेषक अथवा पाठक की श्रद्धा भरत के प्रति डगमगाती प्रतीत होती है। वह शिष्ट मर्यादा का उल्लंघन किस प्रकार कर सकता है। परन्तु हमें इस संशय के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार करना चाहिये। भरत ने संकीर्ण धर्म को त्याग कर व्यापक धर्म को अपनाया था। जहां व्यापक अथवा पूर्ण धर्म की हानि होती प्रतीत हो वहां पर संकीर्ण धर्म को चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भरत की माता ने पूर्णधर्म प्रतीक राम का विरोध करके भरत की भावना को आघात पहुँचाया। भरत ने इसे सहन नहीं किया। तुलसी जी ने

मानस में इस सम्बन्ध में कहा है

"जाके प्रिय न राम वैदेही।

सो नर तजिय कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही"

इसी प्रकार का उदाहरण विभीषण के चरित्र का है। संकीर्ण दृष्टि वाले लोगों ने विभीषण को रावण का विरोध करने के कारण 'घर का भेदिया' जैसे व्यंग्यपूर्ण सम्बोधन से पुकारा है। परन्तु तुलसी जी ने उसे भक्तों की श्रेणी में रखा क्योंकि उसमें धर्म की उच्च और व्यापक भावना थी। विश्व-धर्म का विरोध करने वाले रावण का ही विरोध विभीषण ने किया। इन्होंने भी भरत की भांति संकीर्ण धर्म की तुलना में विश्वधर्म को ग्रहण किया।

तुलसी जी धर्म का अनिष्ट किसी भी स्थिति में सहन नहीं कर सकते थे। तुलसी की भाँति शुक्ल जी उस धर्म को श्रेष्ठ समझते हैं जिसके द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियों का मंगल और कल्याण हो। विश्व धर्म का पालन ही समाज की रक्षा का पालन करवा सकता है। रामचरित मानस में इन्हीं धार्मिक आदर्शों की स्थापना ने उसे सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ बनाया जो कि धार्मिक क्षेत्र का अद्वितीय, शाश्वत सत्यपूर्ण आदर्श ग्रंथ है।

---

१५. काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

प्रश्न २३—काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था के सम्बन्ध में शुक्ल जी के अपने तथा पाश्चात्य मत को स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिए।

उत्तर—संसार को ज्ञानी तथा भावुक दोनों ही विभिन्न दृष्टियों से देखते हैं। ज्ञानी अपने स्व को जगत से सर्वथा भिन्न मानता है। परन्तु भावुक ऐसा न समझ कर संसार से सम्बन्ध स्थापित किए रहता है। ज्ञानी जगत् से सम्बन्धित तथा अपनी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को अलग-अलग देखता है। इस कारण ज्ञानी का दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। योग साधना की कठोरता ही विधि निषेध इत्यादि से उसे सीमित कर देती है, परन्तु भावुक समस्त जगत् को आनन्दमयी चेतना के विचार से देखता है, वह संसार में एक आनन्दमयी शक्ति का अनुभव करता है, और यह आनन्दमयी अनुभूति चरम विकसित होकर भगवान् के रूप में उसके हृदय में प्रतिष्ठित हो जाती है। विभिन्न धार्मिक विचार वालों ने इसे भिन्न रूप दिए परन्तु भारतीय भक्ति मार्ग के अनुसार उस सर्वव्यापी दिव्य आभापूर्ण भगवान का अनुभव ही मुख्य

वस्तु है। शुक्ल जी अन्य धर्मों से तुलसा करते हुए भारतीय भक्ति मार्ग को अधिक व्यापक बताते हैं।

ब्रह्म के तीन रूप सत् चित् तथा आनन्द म से भारतीय काव्य तथा भक्ति मार्ग ने आनन्द तत्त्व को ही ग्रहण किया। आचार्य शुल कहते हैं—"कि संसार में आनन्द की अभिव्यक्ति दो प्रकार की अवस्थाओं से होती है— (१) साधनावस्था (२) सिद्धावस्था। यह एक स्वाभाविक सत्य है कि ससार की दशा सदैव ही एक प्रकार की नहीं रहती, उसमें परिवर्तन आते रहते हैं, इसा कारण आनन्द रूप की अभिव्यक्ति भी सदैव ही एक-सी नहीं रहती वह कभी बढ़ जाती है कभी कम हो जाती है। अर्थात् कभी वह स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कभी नहीं। संसार में होते हुए अत्याचारों, आपत्तियों, कष्टों तथा व्याधियों में वह आनन्द स्वरूप अपना स्थान बना लेता है और उसका प्रकाश लोकरंजन तथा लोकमंगल के रूप में संसार में व्याप्त हो जाता है। हम देखते हैं कि जब कभी अधिक कष्ट, क्लेश, अत्याचार, अधर्म बढ़ जाते हैं तो आनन्द स्वरूप उत्पन्न होकर इनका नाश करते हैं।

आनन्द अभिव्यक्ति की दो अवस्थाओं में से कुछ भक्त या कवि सिद्ध स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम व्यापार आदि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित रहते हैं। इसी प्रकार कुछ साधनावस्था को ग्रहण कर अन्य और अत्याचार आदि को नष्ट करने वाली शक्तियों को संचारित करने वाले भावों—उत्साह क्रोध करुणा, भय, घृणा आदि की क्रियाओं में भी रमणीयता के सौंदर्य के दर्शन करते हैं। यह आनन्द प्रकाश से पूर्ण अन्धकार स्थिति के आवरण को हटाकर मुग्ध होते हैं। साधनावस्था के ये कवि ही वास्तव में पूर्ण कवि हैं क्योंकि ये जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में आनन्द का अनुभव करते हैं। साधानावस्था या प्रयत्न पक्ष के कुछ कवि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित नहीं होते जैसे भूषण। इसी भांति कुछ की दृष्टि केवल उपभोग पक्ष में रम सकती है और यहाँ भावना ये कवि कला-क्षेत्र में समझते हैं।

इस प्रकार आनन्द अभिव्यक्ति के स्वरूपों को दृष्टि में रख कर शुक्ल जी काव्य को दो वर्गों में विभाजित करते हैं :

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले। ये कवि संघर्षी नायक का वर्णन करते हैं जो जीवन में संघर्ष करे।

२. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले । इनके नायक भोग-विलास में रत रहते हैं ।

पश्चिमी विद्वान डंटन (Theodore Walts Dunton) कथित शक्ति काव्य उपर्युक्त में से प्रथम वर्ग में आता है । यह पाठकों या श्रोताओं के मन में एक स्थायी प्रेरणा को उत्पन्न करता है अर्थात् इनका प्रभाव स्थायी होता है । डंटन ने शक्ति काव्य से भिन्न जो कला काव्य माना है उसमें वह कला का अर्थ मनोरंजन से लेते हैं । कला तो दोनों ही प्रकार के काव्यों में आवश्यक है। यदि कला का ध्यान नहीं रखा गया तो काव्य का उद्देश्य साधारणीकरण रसानुभूति कराना तथा स्थायी प्रभाव उत्पन्न करना सफल नहीं हो सकेगा। कला का अर्थ मनोरंजन ग्रहण करने के कारण ही योरुप की काव्य दृष्टि संकुचित हो गई ।

आनन्द की साधानावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य हैं— रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय तथा हिन्दी के रामचरित्र मानस, पदमावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्र प्रकाश जैसे प्रबन्ध काव्य, भूषण का वीर काव्य, उर्दू के वीर रसात्मक मरसिये, योरुपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम इत्यादि प्रबन्ध काव्य तथा प्राचीन बेलल्ड (Ballads) अर्थात् वीर काव्य ।

आनन्द की सिद्धावस्था को या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य हैं - आर्यासप्तशती, गाथा-सप्तशती, अमरशतक, गीत गोविन्द तथा शृंगार रस के फुटकल पद । हिन्दी में सूर सागर, कृष्ण भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल की शृंगारी रचनाएँ, रास पंचाध्यायी, आधुनिक काल की छायावादी रचनाएँ तथा, उर्दू फ़ारसी के शेर और गजलें, अंग्रेजी की लिरिक (Lyrics) कविताएँ तथा नवीन धारा की वर्णात्मक कविताएँ ।

इस निबन्ध में शुक्ल जी का मुख्य उद्देश्य आनन्द की साधनावस्था का ही विवेचन है । इस कारण उसी का विश्लेषण उन्होंने किया है ।

आनन्द की साधनावस्था

संसार में व्याप्त दुःख के अकारण को दूर करने के लिये ब्रह्म की आनन्द-कला जो कि शक्ति के रूप में अवतरित होती है, उसके स्वरूप में भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में अपूर्व मधुरता तथा प्रचण्डता में गहन

आर्द्रता होती है। यही विरोध भाव कर्मक्षेत्र में सामंजस्य द्वारा सौंदर्य को उत्पन्न करते हैं जिससे मानव हृदय प्रभावित होता है। लोक कल्याण के लिये कोमल तथा परुष दोनों भागों का सामंजस्य आवश्यक है और इसी में वास्तविक सौन्दर्य है। बाल्मीकि के काव्य से हमें इसी प्रकार का दिव्य सौन्दर्य प्राप्त होता है। धर्म और कल्याण की मंगल ज्योति अधर्म और अमंगल को नष्ट करती प्रस्फुटित होती है। कवि द्वारा प्रस्तुत असुन्दर अत्याचार, क्लेश, हाहाकार, विनाश इत्यादि भाव वास्तव में आनन्द के विकास में सहायक ही होते हैं। जहाँ दुःख की कठोर स्थिति होती है वहाँ करुणा की आर्द्रता भी लक्षित होती है। कवि द्वारा प्रस्तुत की गई सुन्दर-असुन्दर, धर्म, अधर्म की स्थितियों का उद्देश्य यही होता है कि वह उनके द्वारा आनन्द का प्रकाश प्रसारण करने वाली ब्रह्म की आनन्द कला का दर्शन करवा सके। व्यास ने महाभारत में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौंदर्य प्रस्तुत किया है।

आचार्य शुक्ल कहते हैं कि धर्म वह वृत्ति या व्यवस्था है जो कि संसार में मंगल की सृष्टि करती है। इसी धर्म स्थापना में भगवान की पूर्ण कला के दर्शन होते हैं। अधर्म का नाश करने के लिए धर्म की प्रत्येक वृत्ति कोमल-कठोर, सुन्दर, असुन्दर, उग्र-मधुर, स्वीकार की जायेगी। इस वृत्ति की विजय धर्म की जय कहलाती है। यह भगवान् की आनन्द कला के विकास की ओर बढ़ती गति, सुन्दरता तथा सफलता लिए हुए हैं। प्रत्येक दशा में यह गति सुन्दर रहती है, यह इसका शाश्वत गुण है। बाल्मीकि तथा व्यास ने धर्म की गति का सौंदर्य दिखाकर धर्म की जय में ही अन्त किया। इनमें उपदेश भावना के स्थान की बजाए भगवान के रूप की मुग्धता थी। यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण द्वारा जरासंघ और कौरवों का नाश न होता तो भी इनकी गति विधि में सौंदर्य रहता परन्तु भगवान् की अबोध शक्ति के कारण इनमें भगवान की पूर्ण कला नहीं दिखाई पड़ती।

धर्म प्राप्ति की विजय में जहाँ कवियों ने सौंदर्य का दर्शन किया वहाँ विफलता भी सौंदर्य अनुभूति करने वाले अनेक कवि हुए हैं। पाश्चात्य कवि शैली (Shalley) विश्व में व्याप्त पाखंड, अत्याचार अन्याय के दमन तथा मानव मात्र के प्रेम के स्वप्न देखने वाले कवि थे। 'इस्लाम का विप्लव'(The Revolts of Islarm) नामक महाकाव्य में इन्होंने नायक और नायिका द्वारा

संसार में मंगल शक्ति की स्थापना करने के लिए अत्याचारो, अन्याय का दमन और विजय का आभास देकर मनोहारी मंगल रूप दिया परन्तु अन्त में मंगल शक्ति की असफलता और संसार में अंधकार का आचरण दिखाया है।

प्रायः कवि मंगल, अमंगल, धर्म अधर्म के युद्ध में मंगल शक्ति की विजय दिखाते हैं उस विजय में शिक्षावाद अर्थात् उपदेश तथा अस्वाभाविकता समझ कर हीन समझना ठीक नहीं। शुक्ल जी कहते हैं कि धर्म विधान की गति में अव्यवस्था, जब कि प्रत्येक स्थान पर अधर्मी दुष्ट पात्र को असफल दिखाया जाय और मंगल सृष्टि को सफल दिखाया जाये, होने से ही अस्वाभाविकता आएगी अन्यथा नहीं। शुक्ल जी कहते हैं कि सच्चा कवि ऐसा नहीं करेगा वह सामंजस्य की ओर से पूर्ण सचेत रहेगा। अधर्मी पात्र दुर्दमनीय शक्ति प्राप्त करता है। जिसके सम्मुख धर्म वार-बार विफल होता है और बार-बार संघर्ष के पश्चात् ही धर्म विजयं होता है। सच्चा कवि धर्म विजय के सौंदर्य से मानव मन को आकर्षित करने की चेष्टा करता है। जिससे मानव मात्र अधर्म और दुष्कर्मों से दूर रहे। उसमें उपदेश के स्थान पर कवि धर्म तथा अधर्म का फल चित्रित करता है।

कवि जिस सौंदर्य से स्वयं प्रभावित रहता है उसी से वह दूसरों को(पाठकों को) भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी शक्ति के कारण कवि की कल्पना में अनेक प्रकार के सौंदर्य का एकीकरण एक भव्य रूप धारण कर लेता है। इसी भव्य स्वरूप को वह समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। राम तथा कृष्ण में कर्म सौंदर्य के साथ ही रूप सौंदर्य भी दिखाई देता है। वास्तव में मानव हृदय इन दोनों के समन्वित रूप से ही प्रभावित होता है, शुक्ल जी कहते हैं लोक हृदय आकृति और गुण सौंदर्य और सुशीलता, एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है।" इस बाह्य तथा आन्तरिक सौंदर्य के एकीकरण के आधार पर भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार नायक को कई वर्गों में विभाजित किया गया है। धीरोदात्त नायक के गुणों को भारतीय हृदय किसी प्रकार भी परित्यक्त नहीं कर सकता। शुक्ल जी के मतानुसार यह भाव संसार के सभी साहित्यों में विद्यमान है। १९ वीं शताब्दी के अंग्रेजी कवि शैली जो समस्त शासन व्यवस्थाओं के विरोधी थे इससे पीछा न छुड़ा सके। उन्होंने कर्म सौंदर्य तथा रूप सौंदर्य दिखाया।

इसके साथ ही एक नायक के प्रति परम्परा से जो विचार हृदय में बने हुए हैं उनका त्याग या नवीन रूप सम्भव नहीं। प्राचीन परम्परा से चली आ रही धारा में परिवर्तन सहज सम्भाव्य नहीं है। सहृदय राम का सौंदर्य कुम्भकरण में स्वीकार न करेंगे और कुम्भकरण का वीभत्स रूप राम में। यह परिवर्तन उन्हें सह्य नहीं होगा। मेघनाद वध के रचियता मधुसूदन दत्त ने मेघनाद को रूप गुण सम्पन्न नायक बनाया परन्तु लक्ष्मण को कुरूप नहीं कर सकते। ऐसे लेखक नवीन भावनाओं,धाराओं से प्रभावित होते हैं परन्तु यह अस्थिर होती है। इस प्रकार का परिवर्तन व्यर्थ में ही भारत के आदर्श नायकों को नया बनाकर गड़बड़ उत्पन्न करता है। बंगाल कवि नवीन चन्द को अपनी रचना 'कुरुक्षेत्र' में कृष्ण का रूप परिवर्तन करके ऐसो ही गड़बड़ी करने का असफल प्रयत्न किया है। परम्परा से प्रतिष्ठित आदर्शों में नवीन का मिश्रण कवि ऐसे रूपों में करते हैं जो भद्दा न प्रतीत हो, गड़बड़ी न हो। शुक्ल जी कहते हैं जब नवीन विचारधारा के अनुसार नवीन आख्यानों तथा पात्रों की रचना हो सकती तो प्राचीन को विकृत क्यों किया जाए।

परम्परागत कर्म सौंदर्य की उपेक्षा करके प्रेम और भ्रातृभाव में ही काव्य उत्कर्ष मानना जैसा टाल्सटाय ने माना है एकदेशीय हैं। संसार में अत्याचार अन्याय करने वाले को प्रेम की शिक्षा देना, दया की भिक्षा मांगना कर्मक्षेत्र का सौंदर्य नहीं। आचार्य जी कहते हैं हृदय के दो पक्ष हैं कोमल तथा कठोर। इनमें से हम किसी एक का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते। इन दोनों के सामजस्य में ही काव्य कला की रमणीयता द्वारा मंगल या सौंदर्य का विकास दिखाई देता है।

भावों की प्रक्रिया के सम्बन्ध में आचार्य जी का मत है कि आरम्भ से अन्त तक के काल में भाव का कुछ भाग आश्रय को चेतना के प्रकाश में कुछ अन्तस्संज्ञा के क्षेत्र में छिपा रहता है। संचारी भावों के संभरण काल में कभी-कभी उनके स्थायी भाव कारण रूप अन्तस्संज्ञा के भीतर पड़ जाते हैं। रतिभाव से संचारी होकर आई ईर्ष्या ही बाहर भी प्रमुख होकर आती है। आश्रय को कोमल रति-भाव की चेतना ही नहीं रहती। जिस प्रकार आश्रय में एक स्थायी भाव के रहते भी अनेक भाव तथा अन्तर्दशाएं संचरित होती रहती हैं उसी प्रकार प्रबन्ध काव्य में नायक में एक मूल प्रेरक भाव जो

घटना का चक्र चलाता है। विद्यमान रहता है और उससे अनेक भाव प्रस्फुटित होते रहते हैं। यह बीज भाव, स्थायी भाव तथा अंगी भाव से भिन्न होता है। इन भावों (बीज भाव द्वारा स्फुरित) दोनों ही प्रकार के कोमल तथा कठोर तीक्ष्ण तथा मधुर भाव रहते हैं। यदि इस मूल प्रेरक भाव या बीज भाव की गति मंगल विधायनी होगी तो उसकी शक्ति के अनुसार सारे भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होंगे जिस पात्र में बीज भाव होगा उसके द्वारा प्रस्फुटित भावों में सहृदय आनन्द लेगा अर्थात् रसरूप में उन्हीं का रसास्वदन करेगा। ऐसे पात्र की गति में बाधा डालने वाले भावों से पाठक को आनन्द प्राप्त नहीं होता। राम रावण से घृणा भाव प्रकाशित करते हैं तो पाठक का राम से तादात्म्य हो जायेगा परन्तु रावण के ऐसा करने पर नहीं होगा। भाव की व्यापकता ही कर्म को सुन्दर बनाने में योगदान करती है। समस्त मानव कल्याण के कर्म तथा स्वार्थ के लिए कर्म में बड़ा अन्तर होगा। सहृदय समाज मानव कल्याण को मान्यता देगा वही उसे सुन्दर प्रतीत होगा।

काव्य में मंगल का विधान करने वाले करुणा तथा प्रेम भाव हैं। करुणा रक्षण की ओर बढ़ती है। प्रेमरंजन की ओर परन्तु प्राथमिकता करुणा को है। रंजन बाद में आयेगी इस प्रकार की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही है। भवभूति को उत्तर रामचरित, बाल्मीकि रामायण रचियता भी क्रौंच वध से करुणा रस पूर्ण हुए थे। मारीच ताड़का वध उसी करुणा का मंगल स्वरुप है, सीता हरण उसमें दाम्पत्य प्रेम के कारण तीव्रता उत्पन्न करता है, परन्तु लोक रक्षा की भावना से रावण वध उसे उत्कृष्ट और सौंदर्य पूर्ण बनाता है।

काव्य का सौंदर्य उसकी उत्कृष्टा केवल कोमल प्रेम व्यंजना में ही नहीं जैसा टाल्सटाय मानते हैं या कलावादी मानते हैं बल्कि क्रोध, प्रचण्ड, उग्र भावों में भी करुणा के अव्यक्त रूप से स्थित होने पर सौंदर्य झलकता है। शैली ने अपने पात्रों में अनेक भावों का प्रदर्शन किया जो स्वतन्त्रता का उपासक तथा परिवर्तनशील विचारधारा में विश्वास रखता था। उसके काव्य में स्थिर और गत्यात्मक सौंदर्य उपभोग पक्ष तथा प्रत्यक्ष पक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं।

टाल्सटाय के मातृप्रेम में साम्प्रदायिकता का तथा कलावादियों के मनोरंजन

मात्र की हल्की रुचि तथा संकीर्ण दृष्टि होने के कारण केवल भ्रातृप्रेम में काव्यत्व माना गया। टाल्सटाय के अनुयायी प्रयत्न पक्ष ग्रहण करते हैं परन्तु वह पीड़ित सेवा, अत्याचारी को प्रभावित करने के लिए साधुता तथा कष्ट सहिष्णुता में सौंदर्य मानते हैं। इसको वह आध्यात्विक शक्ति कहते हैं परन्तु भारतीय दृष्टि से यह मनुष्य की अन्तः प्रकृति की सात्यिक बिभूति है। सात्विक गुण पूर्ण प्रेमविष्णुता के लिए आवश्यक है और प्रेम तथा करुणा में सत्वगुण प्रधान है। सत्वगुण पारमार्थिक सत्ता के निकट पहुँचाता है इसलियें बल्लभाचार्य जी ब्रह्म के सत् स्वरूप के प्रकाश करने वाली शक्ति को साधना कहा है।

जगत् में तीनों गुण— सत्व, रजस, तमस् व्यक्त है परन्तु ब्रह्मानान्द स्वरूप का प्रकाश रजोगुण तथा तमोगुण के तिरोभाव पर ही दिखाई देता है। यह अव्यक्त प्रकृति किसी ओर भी जाए परन्तु उसके सत्वगुण में प्रवृत्त होने पर ही सत्वगुण के प्रभाव से सात्विक तेज पूर्ण दिखाई देगा। यही कारण है कि हमारे भगवान् जहाँ एक ओर ब्रज से भी कठोर हैं वहाँ पुष्प से भी कोमल है। इस प्रकार सात्विक गुण ही काव्य का मुख्य तत्व हैं जो आनन्द, सौंदर्य और मंगल का विधान करता है।

प्रश्न ३०—काव्य में आनन्द की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष से आप क्या समझते हैं ? काव्य रचना में इसका महत्त्व स्थिर कीजिये।

उत्तर—भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन होता है लोकमंगल की सृष्टि करना। विश्व में आनन्द का प्रसार करना। यह भौतिक जगत् विभिन्न लौकिक सुख-दुःख से भरा पड़ा है। कवि का कर्म ही उस स्थिति में सफल है जबकि वह दुःख को सुख में परिवर्तित कर दे। यह काव्य की ही शक्ति है जो कि करुणा, रौद्र जैसे रसों से पोठक को आनन्द लाभ करवाता है। इस संसार के समस्त व्यापारों में न जाने कितनी करुणा और भयानकता से सम्बन्धित वस्तुएं भरी पड़ी हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य का मूल प्रयोजन ही आनन्द माना है। उनका 'शिवेतरक्षतये' इसी बात की पुष्टि करता है। लोक अनिष्ट निवारण के लिए ही काव्य की रचना की जाती है। काव्य द्वारा रसास्वादन तथा ब्रह्मानन्द इसी ओर संकेत करते हैं।

काव्य में आनन्द की साधनावस्था ही पाश्चात्य आचार्य डंटन का शक्ति

काव्य (Literature of Power) है। इसका सबसे प्रमुख तत्त्व अथवा कार्य यह है कि लोक प्रवृत्ति को, लोकरुचि को यह प्रभावित करता है, उसका प्रभाव स्थायी होता है। इसका प्रयोजन है लोक में श्रोताओं या पाठकों के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा उत्पन्न करना। इसका उद्देश्य केवल अस्थायी अथवा क्षणिक मनोरंजन नहीं है। जहां उपभोग पक्ष की प्रधानता अथवा मनोरंजन की भावना आ गई, वहाँ काव्य का वास्तविक उद्देश्य उसकी दृष्टि संकुचित होने के कारण नष्ट हो जायगा। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलने वाले कितने ही ग्रन्थ हैं जैसे रामायण, महाभारत, रामचरित मानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध) आदि। इसलिए ओडेसी पैराडाइज लास्ट, रिवाल्ट आफ इस्लाम आदि योरुपीय काव्य रचनाएं भी इसी प्रकार की हैं। इस प्रकार काव्य आनन्द के साधनों की सृष्टि करने वाला है। वह काव्य द्वारा लोक आनन्द के लिए उपकरण एकत्रित करता है।

आनन्द की प्राप्ति ही अन्तिम और प्रधान लक्ष्य होने के कारण ही काव्य प्रत्येक वस्तु का मंगल रूप ग्रहण करता है। वह प्रत्येक पदार्थ में आनन्द प्राप्ति करता है। वह दुःख में, भयानक से भयानक वस्तु में कटुता मधुर मनोहर और सुख की अनुभूति करता है। वह दुःख को सुख में परिवर्तित करने वाला गाधन है। वह हर स्थिति में ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस संसार में हर ओर दुःख की ही व्याप्ति है ब्रह्म की आनन्दकला उसको दूर करने के लिए शक्ति मन्द रूप धारण करती है। इस आनन्द कला के प्रत्येक रूप में आनन्द ही आनन्द है। अपने इसी सामञ्जस्य के आधार पर वह प्रत्येक हृदय को प्रभावित करने की शक्ति रखती हैं। आचार्य शुक्ल जी कहते हैं। "भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोक धर्म का सौंदर्य है। काव्य का धर्म यही है कि वह सौंदर्य के आवरण को हटाकर उसमें से सौंदर्य के दर्शन कराता है। अमंगल में मंगल, अधर्म में धर्म का उद्घाटन करने के लिए ही कवि हमारे सम्मुख असौंदर्य अमंगल अत्याचार, क्लेश इत्यादि के दृश्यों का, ऐसे विषयों को प्रस्तुत करता है। परन्तु यह सभी रूप आन्तरिक रूप से आनन्द कला के विकास में सहायक होते हैं। अत्याचार, अन्याय, रोष सब चारों ओर करुणा का प्रसार हुआ है। महाभारत में अधर्म में से ही धर्म की उपलब्धि की गई है।

लोक मंगल का विधान करने वाली वृत्ति धर्म है। यह धर्म की वृत्ति चाहे कोई भी रूप ग्रहण करे परन्तु यह ग्रानन्द में ही योग देगी। इस वृत्ति या गति के सफल होने पर ही 'धर्म की जय' कहलाती है। इसमें इसका सौंदर्य हैं, इसकी सफलता है। वास्तव में बात यह है कि परिणाम तो चाहे कुछ भी हो परन्तु इसकी गति ग्रानन्द के साधनों को जुटाने में ही लगी रहती है। संसार में जहाँ सफल में हीं सौंदर्य का दर्शन करने वाले कवि हुए हैं वहाँ विफलता में भी सौंदर्य का दर्शन करने वाले कवि हुए हैं। अंग्रेज कवि शैली इसके उदाहरण हैं। ग्रापने दश सर्गबद्ध महाकाव्य इस्लाम का विप्लव (The Revolt of Islam) में लोक मंगल में मग्न नायक ग्रौर नायिका में मंगल शक्ति की अपूर्व छटा दिखाकर, कथा उनके द्वारा एक वार दुर्दान्त ग्रत्याचार के पराभव के मनोरम ग्राभास से ग्रनुरंजित करके, ग्रन्त में उस शक्ति की विफलता की विषादमयी छाया से लोक का फिर ग्रावृत्त दिखाकर छोड़ दिया।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि कवि लोग जो मंगल-ग्रमंगल के द्वंद्व में सदैव मंगल की विजय दिखाया करते हैं, उनको ग्रस्वाभाविक मानकर ग्रथवा शिक्षावाद समझ कर घृणा करना उचित नहीं। ग्रस्वाभाविकता तो उस स्थिति में कहनी चाहिए जहाँ प्रत्येक स्थिति में दुष्ट पात्र को विकल दिखाया जाय; यदि ऐसा हुसा तो ग्रानन्द प्राप्ति में बाधा पड़ जायगी। उस एक रसता से नीरसता ग्रा जायगी। कवि का प्रयोजन तो यह है कि वह कर्म सौंदर्य के प्रभाव से प्रवृत्ति या निवृत्ति की भावना को मनुष्य की ग्रतः प्रकृति में उत्पन्न करता है। क्योंकि कवि जिस सौंदर्य भावना से स्वयं प्रभावित होता है दूसरों को (पाठक श्रोता) भी उससे प्रभावित करना चाहता है। पाठक तो पात्र के उच्च कर्म, वीरता ग्रौर पराक्रम के ग्रान्तरिक गुणों के साथ उसका बाह्यरूप, ग्राकार प्रकार भी उतना ही उच्च तथा सुन्दर देखना चाहता है। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। कर्म सौंदर्य के साथ हृदय की वासना रूप सौंदर्य का भी ग्रास्वादन करना चाहती है। यह हृदय को प्रभावित करने का साधन है। यदि कर्म सौंदर्य वाले पात्र को कुरूप चित्रित किया जायेगा तो हृदय पर उसका प्रभाव ग्रच्छा न पड़कर बुरा ही पड़ेगा। लोक हृदय उससे मेल नहीं खा सकेगा। बंगाल के कुछ कवियों में यह प्रवृति

चली थी कि उन्होंने परम्परागत दु:शील पात्रों को सुशील चित्रित किया, परन्तु सुशील पात्र को वह दु:शील या कुरूप नहीं बना सके।

प्राचीन परम्परा से चले आ रहे आख्यानों के पात्रों में कुशल कवि अपनी शुद्ध मर्मानुभूति की सहायता से उनमें नवीनता, नई बातों का योग कर देते हैं। जैसे 'रामचरित मानस' के राम से गुप्तजी के साकेत के राम में एक नवीनता है। दोनों का रूप चित्रण कुछ विभिन्न है। परन्तु उनके चिर प्रतिष्ठित आदर्शों में कोई अन्तर नहीं हैं। नवीनता होनी चाहिए, परन्तु जो मेल खा जाये; अन्यथा वह सहृदय के हृदय को खटकती रहती है और इस प्रकार आनन्द का प्रयोजन नष्ट हो जाता है। कर्म-सौंदर्य पर मुग्ध होने की परम्परा चली आ रही है। परन्तु टाल्सटाय ने कर्म-सौंदर्य का दूसरा पक्ष या मन रखा जो एकदेशीय ही है, वह है भ्रातृप्रेम के प्रदर्शन तथा आचरण में काव्य का उत्कर्ष मानना, अत्याचारियों, अन्यायियों, दुष्टों, क्रूरों उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा मांगने, प्रेम दिखाने में कर्म सौंदर्य मानना। परन्तु यह बात हृदय के साथ मेल नहीं खाती। क्योंकि इसमें सामञ्जस्य नहीं है, एक पक्षयीता है। शुक्ल जी लिखते है "मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो अंग हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकाल की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" काव्य के मूल पात्र अथवा नाटक में कोई प्रेरक भाव या बीज भाव रहता है जिसकी प्रेरणा से घटनाचक्र चलता रहता है और उसमें से विभिन्न प्रकार के अनेक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। इस मूल प्रेरक अथवा बीज भाव में कोमल, मधुर और कठोर, तीक्ष्ण दोनों ही प्रकार के भाव विद्यमान रहते हैं, यदि बीज भाव की प्रकृति मंगल विधायनी है तो तीक्ष्ण और कठोर प्रेरित भाव होने पर सुन्दर होते हैं। पाठक या श्रोता भी इन्हीं भावों को ग्रहण करेगा। जो ऐसे पात्रों के कार्यों में विघ्न उत्पन्न करते हैं, पाठक उनसे किसी भी स्थिति में तादात्म्य नहीं करते। ऐसा होने पर कि दुष्ट-पात्र, शील-पात्र के प्रति क्रोध या घृणा प्रदर्शित करें तो पाठक केवल चरित्र द्रष्टा मात्र रहेगा तथा रसानुभूति नहीं कर सकेगा।

भावों में मंगल का विधान करने वाले दो ही भाव प्राप्त होते हैं—करुणा, जिसकी गति रक्षा की ओर होती है—दूसरे प्रेम, जिसकी गति

रंजन की ओर। इन दोनों में प्राथमिकता रक्षा को दी जाती हैं। इस प्रकार आनन्द की साधनावस्था अथवा प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही ठहरता है। 'रामायण' का बीज भाव भी करुणा है, जिसका आधार क्रौंच वध से वाल्मीकि के हृदय में उत्पन्न करुणा है। 'उत्तर रामचरित' के लेखक भवभूति ने तो करुणा को ही एक मात्र रस कह दिया है। रामायण में लोक मंगल की शक्ति का भाव कई स्थानों पर प्राप्त होता है जैसे ताड़का दमन में, सीता हरण द्वारा इस शक्ति का विकास की गति की ओर बढ़ना। यदि राम केवल दाम्पत्य-प्रेम के भाव से रावण का दमन करते तो उनके उस आक्रोश में लोकोत्तर सौंदर्य का यह रूप नहीं होता जो है। लोक के प्रति करुणा उसी स्थिति में सफल होती है जब लोक को पीड़ा से मुक्ति प्राप्त हो। इस प्रकार टाल्सटाय के प्रेम भाव की कोमल व्यंजना में काव्य का उत्कर्ष मानने का विचार असफल हो गया। शुक्ल जी का कथन है, "इसी प्रकार कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र ही हल्की रुचि और दृष्टि की परमिति के कारण समझना चाहिए।" टाल्सटाय कथित काव्य की आध्यात्मिक शक्ति को शुक्ल जी काव्य में कोई आवश्यकता नहीं समझते।

आचार्य शुक्ल प्रभविष्णुता के लिए सत्वगुण की सत्ता काव्य में अन्तस्संज्ञा और प्रकाश रूप में दोनों ही रूपों में मानते हैं। वास्तव में उच्चदशा का प्रेम और करुणा दोनों ही सत्वगुण प्रधान हैं। भारतीय विचारधारा काव्य में सत्वगुण की प्रधानता तथा रजोगुण, तमोगुण का तिरोभाव काव्यानन्द के लिए आवश्यक समझती है। क्योकि रस का आस्वादन विशुद्ध मुक्त हृदय ही कर सकता है।

---

१६. साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

प्रश्न ३१—साधारणीकरण से क्या तात्पर्य है? आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो पूर्वी तथा पश्चिमी मत दिये हैं उन्हें प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—साधारण शब्दों में साधारणीकरण का अर्थ है कि काव्य-भावना द्वारा श्रोता या पाठक का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना। दूसरे

शब्दों में एक काव्य को जितने भी श्रोता या पाठक सुनते या पढ़ते हैं उन सभी में उसके सुनने अथवा पढ़ने से एक ही प्रकार की भावक्रिया होगी, एक ही प्रकार के भाव उत्पन्न होंगे। यही रसात्मक अनुभूति कराने वाले काव्य की पहचान है। काव्य श्रवण या पाठक से विभिन्न श्रोताओं तथा पाठकों में विभिन्न भाव उत्पन्न नहीं होंगे बल्कि एक ही प्रकार के होंगे। यह 'मनुष्य मात्र को प्रभावित करते हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोध की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट काव्य तथा कवि वही है जो लोक हृदय को प्रभावित न कर सके। अब जो साधारणीकरण के सम्बन्ध में समस्या आती है वह हमारा हृदय कवि आश्रय आलम्बन में से किसके साथ साधरणीकरण करता है। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण आलम्बन के साथ होता है।

शुक्ल जी की विचारधारा भारतीय आचार्य साधारणीकरण के आविष्कार भट्टनायक से प्रभावित प्रतीत होती है। भट्टनायक साधारणीकरण होने की प्रक्रिया में तीन शक्तियों का व्यापार मानते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इसके अनुसार पाठक अथवा श्रोता काव्य के अभिधार्थ को ग्रहण कर लेता है, भावकत्व शक्ति से उसमें सत्य की प्रधानता होकर अपने पराये का भाव दूर होता है और भोजकत्व शक्ति द्वारा रसास्वादन करता है। इनमें प्रमुख क्रिया भावकत्व तथा भोजकत्व की है। भावकत्व शक्ति से विशेष आलम्बन अपनी विशिष्टता त्यागकर सामान्य हो जाता है। कवि का कर्तव्य तथा सफलता इसी में है कि यह लोक हृदय को पहचानकर आलम्बन को इस रूप में प्रस्तुत करे कि सामान्य हृदय उससे प्रभावित हो जाए। आचार्य शुक्ल जी ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए शृंगार रस तथा रौद्र रस के उदाहरण दिए हैं। काव्य में कुरूप अथवा दुःशील स्त्री से किसी पात्र का प्रेम दिखाना केवल भाव प्रदर्शन मात्र है। वह विभाव विधायक नहीं हो सकता अर्थात् सामान्य लोक हृदय में शृंगार भावना उत्पन्न नहीं होगी। इस प्रकार रौद्र रस में आलम्बन का चित्रण ऐसा होना चाहिए कि मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र बन सके। इस प्रकार रसानुभूति के लिए भाव तथा विभाव दोनों पक्षों

का पूर्ण सामञ्जस्य अत्यन्त आवश्यक है। भाव प्रदर्शक काव्यों में प्रत्येक दर्शक या पाठक अपने विभिन्न भावों के अनुसार आलम्बन का आरोप किये रहते हैं। यह सामान्यजन का आलम्बन नहीं होता।

शुक्ल जी कहते हैं कि काव्य को कल्पना द्वारा बिम्ब ग्रहण कराना चाहिये अर्थ ग्रहण नहीं। यह उसी दशा में सम्भव है कि जब बिम्ब सामान्य या जाति का न होकर व्यक्ति अथवा विशिष्ट वस्तु का हो। सामान्य अथवा जाति को तो मूर्त्त रूप में उपस्थित कर ही नहीं सकते। शुक्ल जी उदाहरण देते हैं, 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है' सामान्य बात है काव्य नहीं, काव्य तो क्रोधित मनुष्य का कल्पना द्वारा मूर्त्त रूप उपस्थित कर देगा। काव्य कल्पना द्वारा जो कुछ उपस्थित करेगा वह व्यक्ति या विशेष होगा।

विभाजन व्यापार में जो साधारणीकरण की विचारधारा है वह भा उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि विभावादि सामान्य रूप में ही प्रतीत होते हैं। वह भेद-भाव, अपने पराए का भाव नष्ट करके एक सामान्य भाव प्रस्तुत करते है जो सबको प्रभावित करता है। परन्तु सामान्य का अर्थ यह नहीं कि रसानुभूति के अवसर पर आलम्बन विशेष के रूप में न आकार सामान्य रूप में आता है। साधार ीकरण का भी यही अर्थ है कि काव्य में वर्णित वस्तु विशेष, जैसे काव्य में आश्रय का आलम्बन होती है। उसी प्रकार से वह समस्त दर्शकों तथा पाठकों का आलम्बन बन जाए। परन्तु कभी-कभी काव्य वर्णित वस्तु विशेष की समान धर्मी अन्य मूर्ति विशेष पाठक के हृदय में आ जाता है। शृंगार की उक्तियां सुनने पर श्रोता के मन में उससे सम्बन्धित सुन्दरी का चित्र मन में आ जाए अथवा अन्य कल्पित मूर्ति आ जाए परन्तु वह होगी विशेष ही। किन्तु वह कवि व्यंजित भाव को ही पाठक या श्रोता के मन में जाग्रत करेगी। आचार्य जी लिखते हैं, "इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।" जिस व्यक्ति को आलम्बन रूप में प्रस्तुत किया जायगा उसमें ऐसे सामान्य धर्म को रखा जायगा कि वह मनुष्य मात्र सभी के भावों से तादात्म्य स्थापित कर लेगा।' श्रोता या पाठक का हृदय लोक-हृदय हो जायगा। दर्शक, श्रोता अथवा पाठक का अपना हृदय अलग नहीं रहता, उसकी भिन्नता, विशिष्टता नहीं रहती। राम के चरित्र का श्रवण तथा पठन करने पर किसी अपवाद को छोड़कर सामान्य जन के हृदय में श्रद्धा तथा आदर की भावना उत्पन्न हो जायगी। ऐसे रावण के

चरित्र के सामने आते ही घृणा का भाव उत्पन्न हो जायगा। यह भावनाएँ मानव मात्र के मन में आयेंगी। इस प्रकार श्रोता या पाठक की अपनी विशिष्ट अनुभूति तथा अपना भिन्न हृदय नहीं रह जाता।

भारतीय काव्य शास्त्र में जिन पुराने आचार्यों ने साधारणीकरण के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया है उन्होंने श्रोता अथवा दर्शक तथा आलम्बन के आश्रय इन दोनों के तादात्म्य की अवस्था पर विचार किया है। जैसे भी भाव आलम्बन के प्रति आश्रय के हृदय में उठेंगे उसी प्रकार के व्यंजना दर्शक अथवा श्रोता के हृदय में भी होगी और उसी प्रकार के भाव का रसास्वादन करेगा। इसके अतिरिक्त शुक्ल जी रस की एक अन्य नीची अवस्था और बताते हैं जिसका पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई विवेचन अपने साहित्य ग्रन्थों में नहीं किया है। शुक्ल जी अपना विचार प्रस्तुत करते हैं कि आश्रय अर्थात् जो किसी भाव की व्यंजना करता हैं, कोई क्रिया या व्यापार करता है तो शील की दृष्टि से उस पात्र के सम्वन्ध में भी श्रोता या दर्शक के हृदय में किसी भी भाव-श्रद्धा भक्ति, रोष, आश्चर्य कौतूहल या अनुराग—का आलम्बन होता है। शुक्ल जी का विचार है कि नाटक या काव्य का आश्रय श्रोता या पाठक का आलम्बन बन जाता है और वह श्रोता या पाठक आश्रय हो जाते हैं। ऐसी दशा में नाटक के आश्रय तथा श्रोता या दर्शक के हृदय भावों में अन्तर हो जाता हैं। आश्रय का तथा दर्शक या श्रोता का हृदय एक नहीं रहता। इस प्रकार की रस दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य तथा उनके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता। आचार्य शुक्ल उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई क्रोधी, अत्याचारी प्रकृति का पात्र किसी सरल, निरपराध, दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के हृदय में वैसा ही क्रोध का भाव उत्पन्न न होकर उस क्रोधी पात्र के प्रति अश्रद्धा तथा घृणा का भाव उत्पन्न होगा। यहाँ पर पाठक आश्रय से तादात्म्य नहीं कर सकेगा, जो रसात्मक अनुभूति उसे होगी वह भी मध्यम कोटि की ही होगी।

जब किसी काव्य या नाटक में भाव व्यंजना करने वाला पात्र या आश्रय के शील-द्रष्टा रूप में पाठक होगा तो भी वहाँ उस स्थिति में पाठक के मन में कोई न कोई भाव जाग्रत रहता है। केवल अन्तर यही होता है कि वहाँ उस पात्र आश्रय का आलम्बन पाठक का आलम्बन नहीं होगा, बल्कि

वह पात्र (आश्रय) ही दर्शक या पाठक का आलम्बन होगा। यहाँ पर तादात्म्य अथवा साधारणीकरण कवि के उस भाव के साथ होगा जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप निर्माण करता है। यह कल्पित स्वरूप कवि के किसी न किसी भाव का आलम्बन होता है। इस प्रकार वह पात्र कवि की ही भाँति पाठक या दर्शक के उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है जब कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का चित्रण करता है तो वहाँ कवि स्वयं ही आश्रय होता है और कवि के भाव के साथ ही पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है और उसी का आलम्बन श्रोता, दर्शक या पाठक का आलम्बन होगा।

कभी-कभी काव्य या नाटक में ऐसा होता है कि आश्रय की भाव व्यंजना को दर्शक या पाठक का हृदय अपनाने में असमर्थ होता है तथा शील वैचित्र्य के कारण उत्पन्न घृणा, विरक्ति, अश्रद्धा, क्रोध, आश्चर्य आदि में से कोई न कोई भाव पाठक के हृदय में उत्पन्न होकर 'अपरितुष्ट' दशा में रह जाता है। ऐसी स्थिति में दर्शक या पाठक की परितुष्टि तभी संभव है जब उपर्युक्त पात्र की भाव व्यंजना का विरोध करने वाला अन्य पात्र प्रस्तुत किया जाए। ऐसी अपरितुष्टि की स्थिति साधारणतया उपन्यास, प्रबन्ध काव्य या नाटक में होती है। जब कोई दुष्ट पात्र अपनी मनोवृत्ति की व्यंजना किसी स्थल पर करता है तो दर्शक या पाठक के हृदय में निरन्तर रूप से यही इच्छा उत्पन्न होती रहती है कि उसके (पाठक) हृदय में दुष्ट पात्र के प्रति जो घृणा या क्रोध का भाव है उसकी पूर्ण व्यंजना अन्य पात्र आकर वाणी अथवा क्रिया द्वारा करे और इसीसे उसकी तुष्टि होती है। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण को जब लक्ष्मण तथा अंगद प्रत्युत्तर देते हैं तो पाठक एक तुष्टि अपने हृदय में अनुभव करता है अन्यथा आकुलता बनी रहती है।

आचार्य शुक्ल रस की दो कोटियाँ मानते हैं। एक तो शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति। इसमें श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता रखे रखता है। यहाँ रस का पूर्ण परिपाक नहीं रहता। दूसरी आश्रय के साथ तादात्म्य दशा अनुभूति—यहाँ श्रोता, पाठक कुछ समय के लिए अपनी पृथक् सत्ता को त्याग कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है, इसे आचार्यों ने रस कहा है। उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव व्यंजना में पाठक या श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। वह अपनी पृथक् सत्ता नहीं रख सकता और पूर्ण रसमग्न रहेगा। इस पूर्ण रसमग्न दशा के पहले या बाद में ही पाठक या

श्रोता (आश्रय) को अपने से अलग रखकर उसके शील सौंदर्य की अनुभूति कर सकेगा और इस स्थिति वही (आश्रय) श्रोता या पाठक का आलम्बन रहेगा और उसके प्रति पाठक के हृदय-भाव टिके रहेंगे।

व्यक्ति वैचित्र्यवाद—भारतीय आचार्यों ने श्रव्य तथा दृश्य दोनों काव्यों में रस की प्रधानता रखी और इसी कारण काव्य में कवि का लक्ष्य तादात्म्य तथा साधारणीकरण की ओर रहता है। परन्तु पश्चिम में ऐसा नहीं है। योरुप में दृश्य काव्यों में शील वैचित्र्य तथा अंत:प्रकृति वैचित्र्य की ओर ही कवि का ध्यान अधिक रहता है जो कि दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति कराता है। इस प्रकार जहाँ भारतीय दृश्य काव्य में रस की प्रधानता होती है वहाँ पाश्चात्य में कौतूहल मात्र पर ही ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार पात्रों में वैचित्र्य के साक्षात्कार के कारण तीन बातें हो सकती हैं—१. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन २. आश्चर्यपूर्ण अवसादन ३. कुतूहल मात्र।

प्रथम प्रकार के वैचिभ्य का साक्षात्कार शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्विक आलोक से होता है। उदाहरणस्वरूप भारत का राम पादुका लेकर विरक्त रूप में बैठ जाना, राजा हरिश्चंद्र का अपनी रानी शैव्या से कफन माँगना, इस प्रकार के शील वैचित्र्य के दृश्य हैं जिनसे श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्यमिश्रित श्रद्धा तथा भक्ति का संचार होता है। इस प्रकार के शील वाले पात्रों के साथ श्रोता या दर्शक उनकी भाव व्यंजना को ग्रहण करके तादात्म्य स्थापित कर लेता है। दूसरे प्रकार का वैचित्र्य, आश्चर्यपूर्ण अवसादन है। यह शील के अत्यन्त पतन तथा घोर तामसिक वृत्तियों का साक्षात्कार होने पर होता है। जब कोई प्रबल अत्याचारी किसी दीन व्यक्ति को कष्ट देकर आनन्द प्राप्त करता है जैसे हूण सम्राट मिहिरगुल मनुष्यों को पहाड़ों से गिरवाकर उनके तड़पने की चेष्टाओं से आनन्दित हो तो इस प्रकार के आनन्द के साथ किसी श्रोता या दर्शक का तादात्म्य नहीं होगा। इस प्रकार की दुःशीलता के प्रति श्रोता या दर्शक के हृदय में आश्चर्य मिश्रित विरक्ति तथा घृणा उत्पन्न होगी। उपयुक्त जिन सात्विक तथा तामसी वृत्तियों की चरम सीमा का उल्लेख हुआ है वे केवल वर्ग-विशेष की सामान्य प्रकृति के अन्दर होती है। परन्तु कुछ लोगों के विचारानुसार ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो कि किसी वर्ग विशेष की भी प्रकृति के अन्तर्गत नहीं होती। इस प्रकार की प्रकृति में न तो प्रसादन का न अवसाद का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार होता है, केवल एक कुतूहल,

एक प्रकार का मनोरंजन ही अनुभव होता है। इस प्रकार की प्रकृति के चित्रण को डंटन (Theodore Walts Dunton) कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि का सूचक और काव्य कला का चरम उत्कर्ष मानते हैं। डंटन कहते हैं कि सामान्य रूप से कवि या नाटककार भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों की कल्पना अपने को उन पात्रों की स्थिति में अनुमान करके करते हैं। कवि अपने को उस पात्र की स्थिति में रख लेता है और फिर कुछ उक्तियाँ करता है। इस प्रकार वे उन वस्तुओं या पात्रों का चित्रण या सृष्टि अपनी ही प्रकृति के अनुसार करते हैं। जब कवि निरपेक्ष दृष्टि से किसी वस्तु की सृष्टि या चित्रण करता है तो वह एक नवीन सृष्टि होती है और यह पात्र नूतन कल्पना होते हैं, इसी कारण डंटन ने इसमें काव्य कला का चरम उत्कर्ष माना है।

इस प्रकार की निरपेक्ष दृष्टि डंटन के विचार से उच्चतम शक्ति है। समस्त संसार का साहित्य देखने पर उन्हें इस निरपेक्ष दृष्टि के दो या तीन कवि मिले जिनमें शेक्सपियर मुख्य हैं। शुक्ल जी कहते है कि शेक्सपियर के नाटकों में अन्तःप्रकृति वाले पात्रों के साथ अधिकांश वह हैं, जिनकी भाव व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। जूलियस सीज़र इसका उदाहरण है। डंटन के मतानुसार शेक्सपियर की निरपेक्ष दृष्टि का सर्वोत्तम उदाहण हैमलेट है। हैमलेट अपनी माता के चरित्र का पतन तथा विश्वासघात देखकर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठता है और इस स्थिति विशेष के कारण वह भी वर्ग विशेष के अन्तर्गत आ जाता है। उसके बहुत-से भाषणों को सहृदय ग्रहण करता है। शुक्ल जी कहते हैं कि उनके मतानुसार ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल बाह्य मनोरंजन का कृत्रिम खेल होगा। परन्तु डंटन ने ऐसी ही मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण माना है। इस प्रकार भारतीय साहित्य में जहाँ रसानुभूति को मुख्य माना गया है वहाँ पश्चिम में केवल वैचित्र्य और कुतूहल को यह स्थान दिया गया है। शुक्ल जी पाश्चात्य मत से सहमत नहीं हैं।

पश्चिम की इस नूतन सृष्टि निर्माण वाली कल्पना का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा है। शुक्ल जी कहते हैं योरुप में यह काव्य-समीक्षा का

सूत्र बन गया है। परन्तु भारतीय साहित्य में यह शास्त्रीय सिद्धांत न होकर अर्थवाद के रूप में कवि और कवि कर्म की स्तुति के रूप में ग्रहण किया गया। इस नवीन सृष्टि की कल्पना के कारण पाश्चात्य कवि दूसरे जगत की बातें कहने लगे, एक अन्य जगत का वर्णन अपने काव्य में करने लगे। शैली के पश्चात् यह विचार प्रवृत्ति और बढ़ गए। यह प्रवृत्ति योरुप के पुनरुत्थान काल में आरम्भ हुई, यह उस युग-विशेष की ही प्रतिक्रिया थी। शुक्ल जी कहते हैं कि इस युग से पहले काल में काव्य की रचना काल को अखण्ड, अनन्त और भेदातीत मानकर और लोक एक सामान्य सत्ता समझकर की जाती थी। इस विचार के कारण काव्य रचना देश, काल और समाज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर नहीं की जाती थी। कवि लोग समाज की विभिन्न रुचियों और परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखते थे। परन्तु इस अभाव की ओर पुनरुत्थान काल में ध्यान गया और साहित्य शास्त्रियों ने व्यक्तिवाद की एक नवीन विचारधारा प्रतिष्ठित की। इस प्रवृत्ति को लेकर पश्चिमी साहित्य व्यक्तिगत विशेषताएँ, विशेष वैचित्र्य प्रस्तुत करने में एक-दूसरे से होड़ करने लगे।

जब किसी 'वाद' का प्रभाव काव्य क्षेत्र में होता है तो वह उस काव्य के तत्त्वों को पीछे हटाकर अपना स्थान प्रमुख बना लेता है, यह बात योरुप में हुई। काव्य क्षेत्र में लोक का क्या स्थान है और व्यक्ति का क्या स्थान है ? लोक में भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों हो मिलती हैं परन्तु फिर भी एक सामान्य रूप, आकृति तथा अन्तर्भूमियों का ऐसा प्राप्त होता है कि जहाँ अभिन्नता होती है, एकता होती है। ये अन्तर्भूमियां नर समष्टि की रागात्मक प्रवृत्ति में प्राप्त होती हैं। सर्वमान्य भावों को जिसको मानव मात्र समान रूप से ग्रहण करता है उसी के आधार पर भारतीय साधारणीकरण के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई। इन अन्तर्भूमियों का सम्बन्ध मानव हृदय से है जो कि बाह्य सभ्यता तथा कृत्रिमता पर आधृत नहीं है। इसका सम्बन्ध हृदय की मूल वासनात्मक सत्ता से है।

योरुप में व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति ने स्वच्छन्दता आन्दोलन के उत्तरकाल में एक अत्यन्त विकृत रूप धारण कर लिया। यदि व्यक्तिवाद को पूर्ण रूप से माना जाय तो कविता करने का कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्तिवाद के अनुसार एक हृदय की दूसरे से कोई सामानता नहीं और जब समानता नहीं

तो वह हृदय उस कविता को कैसे ग्रहण करेंगे, जिसकी रचना एक ही भावना को हजारों लाखों व्यक्तियों के एक ही रूप से ग्रहण करने के लिये की जाती है। व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति की अवस्था में तो यहीं सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की भावना को छोड़ कर केवल बाह्य व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य को ही लिया जाये जो कुतूहल उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार योरुप में कल्पना द्वारा कृत्रिम हृदय सृष्टि करने को ही कविता का ध्येय माना जाने लगा। इस प्रकार योरुप में जहाँ विशेष के विधान करने की प्रवृत्ति रही, भारत में विशेष को सामान्य बनाने की भावना रही। भारतीय वाणी ने वे भेदों में अभेदता, अभिन्नता के भावों को सर्व सामान्य के होते ग्रहण कर साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया। परन्तु योरुप में अभिन्नता, अभेदता के स्थान पर मित्रता और भेद का निर्माण किया गया जो कि कुतूहल और चमत्कार प्रधान होती थी।

योरुप में काव्य के अन्य सब पक्षों को छोड़कर कल्पना और व्यक्तित्व पर ही जोर दिया गया। शुक्ल जी कल्पना को काव्य का बोध पक्ष मानते हैं जो कवि या श्रोता की रूप व्यापार योजना को प्रेरित करने वाले कुछ भाव या मनोविकार होते हैं। इस कारण भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। योरुप का काव्य केवल आनन्द विलक्षण को तथा कुतूहल देखने की ही वस्तु रह गई।

इस कल्पना और व्यक्तित्व के आधार पर पश्चिम में कई वाद बने। क्रोचे ने अपना अभिव्यंजनावाद प्रस्तुत कर कला की अनुभूति को ज्ञान या बोध स्वरूप मानने पर बल दिया। क्रोचे ने इस कल्पित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान तथा विचारप्रसूत ज्ञान से सर्वथा भिन्न माना। इन्होंने भावों तथा मनोविकारों को भी काव्य विधान का अवयव नहीं माना। परन्तु फिर भी उन्हें अभिव्यंजना के रूप में भावों की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा।

योरुप में विशेष को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ कि बहुत-से स्थानों पर आलोचना भी काव्य में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन पद्धति को लगभग त्याग ही दिया गया। शुक्ल जी कहते हैं कि भारतीय मासिक पत्रिकाओं में जो अदभुत और रमणीय शब्दावली मिलती है वह विशेष की प्रवृत्ति का प्रभाव है। पश्चिम में कोई भी साहित्यिक

या प्रवृत्ति अधिक समय तक नहीं चलने पाती और इस कारण बीसवी शताब्दी के काव्य क्षेत्र में वहाँ गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल गई। कविता में स्वाभाविकता हो चाहे नहीं परन्तु कोई विचित्रता, नवीनता अवश्य ही होनी चाहिये। कुछ लेखक इसी विचार से नवीन प्रकार की उच्छृंखलता, वक्रता, असम्बद्धता, अनर्गलता आदि का प्रदर्शन काव्य में करने लगे।' काव्य की विशुद्ध भावना को अपनाने वाले कुछ ही कवि रह गये। योरुप के अन्दर गत अर्ध-शताब्दी में हुए 'रहस्यवाद', 'कलावाद' के आन्दोलन आज मृत स्वीकार किये जाते हैं। वहाँ का साहित्य वर्ग अब वादों के कृत्रिम झमेले से निकलकर विशुद्ध काव्य को ग्रहण करना चाहता है। वादों के प्रति वहाँ पर एक घृणा का भाव उत्पन्न हो गया है। शुक्ल जी के विचार से काव्य आत्मा हनन करने की जो 'वाद' प्रवृत्ति थी वह अब समाप्त होने लगी है। काव्य की आत्मा रसानुभूति को फिर से स्थान प्राप्त होने लगा है।

प्रश्न ३१ साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों का विश्लेषण करते हुए बताइये कि वह भारतीय आचार्यों से किस सीमा तक साम्य रखते हैं।

उत्तर साधारणीकरण शब्द का सम्बन्ध भारतीय रस सिद्धान्त से चला आ रहा है। जब कविता का श्रोता या पाठक तथा नाटक का दर्शक जिन विषयों को मन में स्थापित करके रति, करुणा, क्रोध, उत्साह इत्यादि भावों तथा सौंदर्य, रहस्य, गांभीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अकेले उसी के हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होते बल्कि वे भाव संसार के मनुष्य मात्र की सत्ता पर प्रभाव डालते हैं। एक ही काव्य को अनेक मनुष्य पढ़ते हैं। एक ही नाटक को अनेकों दर्शक देखते हैं, परन्तु सब के सब एक-सी ही भावनाओं का अनुभव करते है। इसका एक कारण यह है कि उन भावनाओं को मिश्रित करने वाला स्रोत एक ही स्थान से प्रवाहित होता है और वह सामान्य रूप से सब के हृदय को प्रभावित करता है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ (साधारणीकरण) कहलाता है।" इस मत से यह प्रकट होता है कि सर्वश्रेष्ठ

और सच्चा कवि वही है जो कि लोकहृदय को अपने काव्य द्वारा स्पर्श करके प्रभावित करता है। इस लोकहृदय में जब व्यक्ति का हृदय लीन हो जाता है तो वह दशा रस दशा कहलाती है। शुक्ल जी साधारणीकरण आलम्बन तब धर्म का मानते हैं। इस प्रकार से साधारणीकरण आश्रय का न होकर के आलम्बन का होता है। काव्य में वर्णित कुरूप और दु:शील स्त्री को यदि कोई पात्र प्रेम करता है तो वह स्त्री आलम्बन होते हुए भी शृंगार रस की अनुभूति नहीं करवा सकेगी। इस प्रकार का काव्य विधायक न होकर भाव प्रदर्शक होगा। विभाव पक्ष तो तभी होगा जब उस आलम्बन के प्रति मनुष्य मात्र की प्रेम भावना होगी। साथ ही सच्ची और पूरी रसानुभूति के लिए भाव पक्ष और विभावपक्ष का सामंजस्य आवश्यक है। भाव प्रदर्शक काव्यों से पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किए रहता है।

काव्य का विषय सदैव ही विशेष होता है। वह सामान्य या जाति का सामने न लाकर व्यक्ति को सामने लाता है। साथ ही बिम्ब-ग्रहण भी व्यक्ति विशेष को हो सकता है। सामान्य या जाति का नहीं। वर्तमान काल में यह विचार स्थिर हो चुका है। बहुत-से आदमियों के रूप गुण विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति निश्चित करना तथा बहुत-सी बातों को इकट्ठा करके कोई सिद्धान्त स्थिर करना विज्ञान अथवा निश्चयात्मक बुद्धि का व्यवसाय है काव्य का नहीं। इस बात से यह तथ्य निकलता है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य तथ्यकथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। सिद्धान्त की भांति कविता में अर्थ ग्रहण से ही काम नहीं चलता बल्कि बिम्ब ग्रहण कराने की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जाय कि क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है तो इस उक्ति से अर्थग्रहण ही होता है। काव्योक्ति तो हमारे सम्मुख क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं की कल्पना में प्रस्तुत कर देती है और बिम्ब ग्रहण करवाती है।

बिम्ब ग्रहण के सिद्धान्त में तथा विभावन व्यापार के साधारणीकरण में विचार करने पर कोई विरोध नहीं मिलता। विभाव आदि के प्रतीत होने का यह तात्पर्य नहीं कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन या विशेष वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में आकार सामान्यत: व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र के अर्थ संकेतों के रूप में आते हैं। साधारणी-

शुक्ल का तो अभिप्राय यह है कि दर्शक या पाठक के सम्मुख जो वस्तु विशेष आती है वह जिस प्रकार से काव्य में चित्रित आश्रय के भावों का आलम्बन होती है उसी प्रकार से समस्त हृदय समाज का आलम्बन हो जाए। इस प्रकार शुक्ल जी के अनुसार साधारणीकरण के ये तथ्य निकलते हैं: (१) काव्य में वर्णित तथा प्रदर्शित आलम्बन सबके भाव का आलम्बन हो जाय परन्तु इस कथन से यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष की बजाय केवल वस्तु या व्यक्ति मात्र का बोध रह जाता है। (२) जिस प्रकार आलम्बन आश्रय का भाव होता है उसी प्रकार से समस्त पाठको का या दर्शकों का भाव हो जाय। कभी-कभी यह अवश्य होता है कि पाठक अथवा दर्शक की मनोवृत्ति या संस्कार के प्रभाव से उसकी कल्पना में काव्य-वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर उसी से धर्म गुण साम्य रखने वाली मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे कि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो उसको श्रृंगार रस की कविता का रसास्वादन करते समय आलम्बन रूप में उसकी उस प्रेयसी की एक कल्पित मूर्ति सामने आ जायगी परन्तु यह मूर्ति भी विशेष की ही होगी, सामान्य की नहीं परन्तु वह मूर्ति ऐसी अवश्य होगी जो कि काव्य में प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो, उसी भाव को पाठक के मन में जगाए जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि कहता है। वह तो ठीक है कि आलम्बन का व्यक्ति तो विशेष ही होता है परन्तु उसमें ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा की जाती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का थोड़ा या बहुत उदय होता है। बात यह है कि काव्य में आलम्बन रूप में वर्णित व्यक्ति विशेष समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों के लिए होने के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है। साथ ही साथ मग्न पाठक यह भी नहीं सोचता कि यह मेरा आलम्बन है अथवा किसी दूसरे का। दर्शक या पाठक का मन तो लोक हृदय में खो जाता है, उसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता।

भारतीय आचार्यों मे भट्टनायक ने साधरणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा कि विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी सभी साधारण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। अर्थात् जब सीता को कामिनी रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वहां विशिष्टता के रूप में सामान्य बन जाती है। जब पाठक या दर्शक अभिधा अर्थ को ग्रहण करके भावकत्व द्वारा अपने-पराये की अनु

भूति से दूर हो जाता है तब वह सहृदय भोजकत्व शक्ति के द्वारा भाव का रसास्वादन करता है। अभिनव गुप्त ने भट्टनायक के भावकत्व तथा भोजकत्व को स्वीकार करते हुए भी साधारणीकरण को माना है। साधारणीकरण का अर्थ इनके अनुसार भाव की सामान्य भूमि पर पहुंच जाता है जहाँ पाठक व्यक्ति भाव की चित्त वृत्ति से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। शुक्ल जी ने वस्तुनिष्ठ दृष्टि के कारण आलम्बन पर बल देते हुए उसी का साधारणीकरण माना है। वह कहते हैं कि कवि अपने काव्य में ऐसे गुणों को अंकित करता है कि वह न केवल आश्रय का बल्कि समस्त समाज का विषय बन जाता है। परन्तु एक और भी स्थिति हो सकती है जो कि रस की नीची दशा है अर्थात् श्रोता दर्शक उस भाव का अनुभव न करके जिसकी व्यंजना आश्रय या पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है बल्कि वह उस व्यंजना करने वाले पात्र के प्रति किसी अन्य भावों का अनुभव करता है। उदाहरण के लिए जब कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य किसी निर्बाध या हीन व्यक्ति पर अत्याचार या क्रोध करता है तो पाठक के हृदय में उस व्यंजित क्रोध भाव का रसात्मक संचार न होकर उस व्यंजना करने वाले पात्र के प्रति घृणा भाव उत्पन्न हो जाएगा। पाठक या दर्शक आश्रय के साथ तादात्म्य न करके शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप में उक्त पात्र को ग्रहण करेगा। यह प्रभाव भी रसात्मक होगा तथा उस पात्र का आलम्बन दर्शक या पाठक का आलम्बन नहीं होता बल्कि वह पात्र ही उनके किसी भाव का आलम्बन बना रहता है। तादात्म्य तो कवि के उस व्यक्ति भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप कवि पात्र का स्वरूप संगठित करता है। इस प्रकार पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन होता है पाठक या श्रोता के भी भाव का आलम्बन हो जाता है। ऐसी स्थिति में कवि आश्रय होता है। आश्रय व्यंजित भावों को जब पाठक या दर्शक ग्रहण नहीं कर सकते तब वह परितुष्ट दशा में रह जाते हैं और उनकी तुष्टि तभी होती है जब कोई दूसरा पात्र प्रथम पात्र का विरोध क्रिया या वचन द्वारा करता है जैसे क्रोधी परशुराम के कठोर बातों का उत्तर लक्ष्मण देते हैं।

उपर्युक्त स्थितियों में रसानुभूतियों की दो भिन्न कोटियाँ हैं, प्रथम जहाँ श्रोता या दर्शक आश्रय से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह अपनी

पृथक् दशा को भूल जाता है। दूसरे जब वह आश्रय से तादात्म्य नहीं कर सकता तो उसकी पृथक् सत्ता रहती है।

आचार्य नगेन्द्र, ने आश्रय के साथ तादात्म्य स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं प्रत्येक प्रकार में चरित्र के साथ तादात्म्य सम्भव नहीं। पाठक का तादात्म्य तो कवि के भाव से होता है, उस प्रकार आश्रयगत भावों के औचित्य के प्रश्न की समस्या भी सुलझ जाती है।

आचार्य शुक्ल अभिनव गुप्त के मत से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण कुछ भटक गए हैं। इनकी व्यवस्था में व्यापकता अवश्य है, जिस आलम्बन तत्त्व के साधारणीकरण के आश्रय के तादात्म्य पर शुक्ल जी ने बल दिया है, वह प्राचीन आचार्यों के आरोपवाद तथा अनुभूतिवाद से आगे की स्थिति है। जिस प्रकार शुक्ल जी का भाव प्राचीन आचार्यों से साधारणीकरण के सम्बन्ध से भिन्न है, उसी प्रकार आचार्यों के सत्वोद्रेक तथा शुक्ल जी के सात्विक भाव में अन्तर है। क्योंकि सत्वोद्रेक प्रकृतिगत है और सात्विक भाव आदर्श, मर्यादा का सूचक है। वास्तव में आश्रय के साथ भाव तादात्म्य से काव्य-आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है। रागानुभूति अवश्य होती है। काव्यास्वाद के लिए निर्व्यक्तिता तथा सविघ्नश्रांति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक है। शुक्ल जी का मत यद्यपि आचार्यों से कुछ भिन्नता रखता है परन्तु रस-साहित्य में इसका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है और स्थान है।

प्रश्न ३२—व्यक्ति-वैचित्र्यवाद क्या है? शुक्ल जी के विचारों को इस सम्बन्ध में व्यक्त कीजिए।

उत्तर—भारतीय काव्य में रस को काव्य की आत्मा माना गया है। वर्तमान काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस मत के प्रबल पोषक और प्रतिष्ठापक रहे हैं। राम के ही कारण भारतीय काव्य में साधारणीकरण का महत्त्व बढ़ा। परन्तु पश्चिम के दृश्य-काव्यों का प्रधान लक्ष्य शील वैचित्र्य अथवा अंतःप्रकृति वैचित्र्य ही है। यह दर्शक में आश्चर्य तथा कुतूहल को उत्पन्न करता है। जब दर्शक हृदय काव्य में वैचित्र्य का साक्षात्कार करता है तो उसके प्रभावस्वरूप तीन बातों की सम्भावना है—१. आश्चर्य प्रसादन, २. आश्चर्यपूर्ण अवसादन, ३. कुतूहल मात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन वास्तव में हर्ष को उत्पन्न करता है। सत्यभाव की

प्रधानता होने पर ही इसका आस्वादन होता है। यह शील के चरम उत्कर्ष से प्राप्त होता है। जब पात्र का अथवा चरित्र का शील अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो इसकी अनुभूति होती है। भरत, राम की पादुका लेकर विरक्त रूप से बैठ जाता है, राजा हरिश्चन्द्र अपनी ही पत्नी से अपने पुत्र की मृत्यु पर आधा कफन मांगता है, यद्यपि वह अपना शरीर-वस्त्र का भाग ही कफन बनाती है। 'नागानन्द' नाटक में भूखे गरुड़ को जो भूतवाहन अपना मांस खाने के लिए अनुरोध करता है--यह इस प्रकार के शील-चर्मोत्कर्ष के दृष्य हैं अथवा इनमें इतना सुन्दर शील वैचित्र्य है कि श्रोता या दर्शक के हृदय में इन पात्रों के प्रति आश्चर्यमिश्रित श्रद्धा या भक्ति का संचार होता है। ऐसे पात्रों के साथ श्रोता अथवा पाठक का तादात्म्य भाव व्यजना के समय हो जाता है।

दूसरा प्रभाव अर्थात् आश्चर्यपूर्ण आस्वादन तामसी वृत्ति और शील के घोर पतन का सूचक है। इसमें पात्र की तामसी वृत्तियों का चित्रण देखने से श्रोता या पाठक को हर्ष नहीं होता, क्लेश उत्पन्न होता है। इस स्थिति में पात्र तथा दर्शक या पाठक का तादात्म्य नहीं होने पाता। उदाहरण के लिए किसी काव्य या नाटक में हूण सम्राट् मिहिरगुल किसी निरीह व्यक्ति के पहाड़ पर से गिराए जाते समय रोने, चिल्लाने, तड़पने आदि की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं पर विभिन्न ढंगों पर आह्लाद और आनन्द व्यंजित करता है। उसके इस आह्लाद और आनन्द में कोई दर्शक या पाठक उसका साथ नहीं देगा, उनक हृदय उस व्यंजना को स्वीकार नहीं करेगा, इसी स्थान पर दर्शक या पाठव हृदय में क्षोभ तथा कोप उत्पन्न होगा। इसी प्रकार की दुःशीलता को देखकर दर्शक में पात्र के प्रति आश्चर्यमिश्रित विरक्ति तथा घृणा आदि उत्पन्न होगी।

इन उपर्युक्त सात्विक और तामसिक वृत्तियों की आश्चर्यजनक विभिन्नता सामान्य वृत्ति या प्रकृति से उनके उत्पन्न होने की मात्रा में होती है। किसी में कम हो सकती है, किसी में अधिक। यह वृत्तियाँ किसी वर्ग विशेष की प्रकृति मानी जा सकती हैं। जैसे हम भरत को शीलवानों की प्रकृति के अन्तर्गत तथा मिहिरगुल को क्रूर प्रकृति के भीतर मानेंगे। परन्तु कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो कि किसी वर्ग-विशेष के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकती। इस प्रकार की प्रकृति के साक्षात्कार न तो स्पष्ट रूप

से प्रसादन ही होगा और न ही अवसादन —केवल एक प्रकार का मनोरंजन तथा कुतूहल मात्र ही होगा। पाश्चात्य विद्वान डंटन (Theodore Walts Dunton) इस प्रकार (Drammatics of Absolute Vision) का सूचक और काव्य-कला का चरमोत्कर्ष मानते हैं। डंटन यह कहते हैं कि नाटककार अथवा कवि पात्रों या चरित्रों की उक्तियाँ, अपने आपको उनकी स्थिति में कल्पित करके करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक स्थिति विशेष में वह पात्र से जो कुछ भी कथन करवाना चाहते हैं तो उसके लिए वह यह सोचते हैं कि यदि वह इस स्थिति-विशेष में होते तो वह क्या कहते। इस प्रकार अपने ही वचनों को वह उस पात्र से कहलवा देते हैं। इस प्रकार नाटककार या कवि अपनी ही प्रकृति, अपने ही विचारानुसार पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हैं। ऐसे कवियों अथवा नाटककारों की दृष्टि सापेक्ष होती है। परन्तु डंटन तो निरपेक्ष दृष्टि वालों को ग्रहण करता है क्योंकि ये लोग एक नवीन नर-प्रकृति का निर्माण करते हैं और इस निर्माण की समस्त कल्पना उन्हीं लोगों की होती है।

डंटन ने जिन कवियों को माना है उसके दो-तीन उदाहरण ही विश्व-साहित्य में उपलब्ध हैं। इनमें प्रधान स्थान विलियम शेक्सपीयर (Willam Shakespeare) का है। परन्तु शेक्सपीयर के नाटकों में भी ऐसे नवीन पात्रों का अभाव ही है, उनमें अधिक संख्या ऐसे पात्रों की ही है जिनकी भाव व्यंजना के साथ पाठक तथा दर्शक के भावों का तादात्म्य हो जाता है। उदाहरणार्थ नाटक जूलियस सीज़र में जब अटोनियो एक लम्बा भाषण देता है और उससे जो क्षोभ उमड़ा पड़ता है, उसके साथ किसी हृदय का तादात्म्य नहीं होगा। हैमलेट को डंटन निरपेक्षता की दृष्टि का उदाहरण मानते हैं। परन्तु यदि हैमलेट के चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि उसकी मनोवृत्ति एक ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और उसका जघन्य शीलच्युति देखकर अर्धविक्षिप्त हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसके वचनों का असामंजस्य उसकी बुद्धि की अव्यवस्था का द्योतक है। इस प्रकार से हैमलेट का चरित्र भी एक वर्ग-विशेष के अन्तर्गत आ जाता है। इसके बहुत-से कथनों के साथ दर्शक तादात्म्य स्थापित करता है। परन्तु

वह मनोवृत्ति या चरित्र एक कृत्रिम तमाशा होगा जो किसी भी मनुष्य की नहीं हो सकती, परन्तु डंटन ऐसी मनोवृत्ति के चित्रण को नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण मानते हैं।

यह नूतन दृष्टिकारिणी अथवा नूतन निर्माण की कल्पना की चर्चा योरुप की भांति भारत में भी चलती आ रही है परन्तु हमारे यहाँ इसको अर्थवाद के रूप में, कवि और कविकर्म की स्तुति के रूप में ग्रहण किया गया है शास्त्रीय सिद्धांत या विवेचन के रूप में नहीं, जैसा कि पश्चिम में है। इस सूत्र के प्रचार का परिणाम योरुप में यह हुआ कि कवियों ने ऐसी अनुभूतियों की व्यंजना करनी आरम्भ कर दी जो न तो उनकी अपनी होती है, और न ही किसी अन्य की। शेली के पश्चात् इस प्रकार के कवि हुए।

इस प्रकार की नूतन निर्माण की कल्पना की प्रवृत्ति योरुप में पुनरुत्थान काल में हुई। यह प्रवृत्ति का सीमा से बाहर पहुंचा हुआ रूप है। इस प्रवृत्ति से पूर्व काव्यरचना काल को अखंड, अनन्त और भेदातीत मानकर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझ कर की जाती थी। वह सदैव एक ही भावना को सोचते थे। वह यह नहीं सोचते थे कि भविष्य का समय किसी अन्य प्रकार का होगा, कि सामान्य जनता के समूहों में भी सभ्यता विकास का अन्तर होगा। न ही वह यह सोचते थे कि संसार में भिन्न-भिन्न रुचियों और प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति हैं परन्तु पुनरुत्थान काल से यह रूढ़िवाद समाप्त हो गया और व्यक्तिवाद ने जन्म लिया। अब यह प्रवृत्ति हो गई कि व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन प्रधान रूप से होने लगा। परन्तु जब काव्य क्षेत्र में किसी वाद का प्रचार होने लगता है तो वह काव्य के सार का भक्षण कर जाता है। कवि कविता न लिखकर उस वाद को लिखने लगते हैं, वही उनका वर्ण्य विषय बन जाता है। यह प्रश्न अब सामने आता है कि कला या काव्य के क्षेत्र में लोक और व्यक्ति की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक उचित है। इस लोक में जहाँ बहुत-सी भिन्नताएँ मिलती हैं वहाँ इसी प्रकार से अभिन्नताएं भी प्राप्त होती हैं। जैसे एक मनुष्य की आकृति दूसरे से भिन्न है परन्तु हम दोनों को ही मनुष्य कहते हैं। इन दोनों में अवश्य ही कुछ ऐसा साम्य अथवा अभिन्नता होगी कि हम उन्हें मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार से संसार में रुचि भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अंतर्भूमियाँ प्राप्त होती हैं जहाँ

अभिन्नता मिलती है। ये अंतर्भूमियाँ नरसमष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। इसी लोक हृदय की सामान्य अंतर्भूमि के आधार पर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा की गई है। यह सामान्य अंतर्भूमि कृत्रिम या कल्पित नहीं है। काव्य रचना की रूढ़ि या परम्परा की नींव अत्यन्त ही गहरी है। यह सभ्यता विकास, जीवन व्यापारों के परिवर्तन पर आश्रित नहीं। इसका सम्बन्ध तो हृदय के मूल भीतरी देश से है, उसकी सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

स्वच्छन्दतावाद के आन्दोलन (Romantic Movement) के उत्तरकाल में व्यक्तिवाद ने अत्यन्त ही विकृत रूप ग्रहण कर लिया। वह कविता ही व्यर्थ है जिसमें लोक हृदय का स्थान न हो, उसकी भावना न हो। कविता की एक भावना को सैकड़ों-हजारों मनुष्य ग्रहण करते हैं, परन्तु व्यक्तिवाद में जब एक हृदय की दूसरे से समानता ही नहीं तो भाव किस प्रकार ग्रहण किया जायगा। इसका परिणाम क्या हुआ कि कविता में मार्मिक तथ्य और हृदय की बातों को त्याग दिया गया और व्यक्ति वैचित्र्य और कुतूहल मात्र ही शेष रह गया। पश्चिम में कविता के रूप में नकली हृदयों का कारखाना खुल गया। कवि अपने हृदय की औरों से भिन्नता दिखाने के लिए एक काल्पनिक हृदय की सृष्टि करने लगे।

परन्तु भारतीय काव्य की प्रकृति इससे विपरीत रही है, वहाँ काव्य दृष्टि विशेष की बजाय सामान्य के उद्घाटन की ओर रहती है। सामान्य के प्रतिनिधि होकर 'विशेष' भारतीय काव्य में आते हैं। हमारे यहाँ के कवि अपने काव्य के भाव समस्त लोक हृदय में संचरित कर देना चाहते हैं। इस प्रकार भारतीय काव्य भेद में अभेद की प्रतिष्ठा करता रहा और पाश्चात्य काव्य वाणी के झूठे-सच्चे, विलक्षण भेदों द्वारा जनता या पाठक को चमत्कृत करने लगा। पश्चिम में कल्पना तथा व्यक्तित्व का प्राधान्य हो गया, काव्य के अन्य पक्ष इनकी तुलना में गौण हो गए। कल्पना काव्य का बोध-पक्ष है, जिससे रूप व्यापार या कवि को अन्तःसाक्षात्कार का बोध होता है। परन्तु इसके साथ ही काव्य में भाव पक्ष भी होता है जो कि कल्पना को रूप योजना के लिए प्रेरित करते हैं और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में श्रोता या पाठक को रमाने वाले रति, करुणा, क्रोध, उत्साह, आश्चर्य आदि भाव या मनोविकार होते हैं। यही कारण है कि भारतीय काव्य-क्षेत्र में भाव पक्ष

की प्रधानता है और रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। परन्तु पश्चिम में केवल बोध-पक्ष और कल्पना ही शेष रह गये। काव्य केवल मनोरंजन, विचित्रता, हल्का आनन्द रह गया तथा पाठक या श्रोता तमाशबीनों में परिवर्तित हो गये। काव्य में कुतूहल मात्र ही रह गया। भारतीय विचारधारा इससे सहमत नहीं।

पश्चिम में कल्पना और व्यक्तित्व का पर्याप्त प्रसार हुआ। इटली के विद्वान क्रोचे (Benedelte Croce) ने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में कला की अनुभूति को ज्ञान का बोध के स्वरूप मानने का प्रवल आग्रह किया, वह काव्य को कल्पना में आई वस्तु व्यापार योजना का ज्ञान मात्र मानते है। वह इस ज्ञान को स्वयं मानते हैं। निरपेक्षता के प्रभाव के कारण वह भाव या मनोविकारों को भी काव्य की उक्ति का विधायक अवयव नहीं मानते। परन्तु अभिव्यंजना में उन्हें विवश होकर भावों की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा है।

पश्चिम में विशेष या व्यक्ति की प्रधानता को स्थिर रखने के लिए आलोचना भी काव्य रचना के रूप में होने लगी और विवेचन-पद्धति का त्याग होने लगा। इस प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। हिन्दी पत्रिकाओं में भी समालोचना के नाम पर अद्भुत और रमणीय शब्द योजना के दर्शन होने लगे। परन्तु एक विशेष वात यह है कि पश्चिम में साहित्य सम्वन्धी आन्दोलन शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं, स्थिर नहीं रहते। यही कारण है कि वहाँ काव्य में स्वाभाविकता का स्थान नित्य नूतनता ने ग्रहण कर लिया है। कविता का प्रमुख अवयव नवीनता ही रह गई, परन्तु इसके आधार पर सच्ची कविता को नहीं खड़ा किया जा सकता जो लोक हृदय को प्रभावित कर सके। योरुप में वादों का युग समाप्त होने को जा रहा है क्योंकि यह लोक हृदय ही नहीं कवि हृदय को भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। स्वाभाविकता को काव्य में अपनाना ही पड़ेगा।

रसात्मक बोध के विविध रूप

प्रश्न ३३.—आचार्य शुक्ल ने रसानुभूति के जो विभिन्न रूप तथा व्यापार बताए हैं उन्हें स्पष्ट रूप से समझाइए।

उत्तर—इस जगत् के विभिन्न कार्य-व्यापारों में ही मनुष्य की कल्पना उद्बुद्ध होती है और इसी संसार की विभिन्न वस्तुओं का अनुभव करके उसके हृदय में भावों तथा मनोविकारों का जन्म होता है। बाह्य क्रियाओं के प्रभाव से ही व्यक्ति में सौंदर्य, माधुर्य, विचित्रता, भीषणता तथा क्रूरता की भावनाएँ उत्पन्न होती है। जगत् में मनुष्य हर प्रकार की वस्तुएँ, हर प्रकार का व्यापार देखता है और उसी का प्रभाव उसके हृदय में स्थित होकर भाव बन जाता है। इसी प्रकार से प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा आदि विभिन्न भाव, जिनके उत्पन्न करने वाले आधार संसार में स्थित, उत्पन्न होते हैं। जब हम किसी वस्तु को केवल ऊपरी रूप से देखते हैं तो वह हृदय को स्पर्श नहीं करती, परन्तु अन्तर्मुखी प्रवृत्ति होने पर वह हृदय को छूती सी प्रतीत होती है। जैसे बाह्य रूप होते हैं, वैसे ही भाव हृदय में विभिन्न सुन्दर वस्तुओं के रूप का अनुभव होगा। जबकि क्रिया का या भाव का चिन्तन हम करते हैं तो एक चित्र उसका आँखों के सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। एक मानसिक चित्र जो हम सोचते हैं वह सम्मुख आता है। उस कल्पना चित्र के अनुसार हृदय की भावना तीव्र या मन्द होती है। यदि उसका प्रभाव प्रवल होगा तो भावना तीव्र होगी, यदि निर्बल होगा तो मन्द होगी।

यह कल्पना द्वारा विभिन्न भावों का रूप विधान मन में दो प्रकार का होता है। जो कोई वस्तु हमने कभी देखी हो भावानुसार उसका तथानुरूप प्रतिबिम्ब हमारे मन में चित्र की भाँति आकार उपस्थित हो जाता है। यह भी होता है कि उस देखे हुए पदार्थ के आकार-प्रकार, रंग, रूप के आधार पर ही अपने मन की कल्पना के अनुसार एक नवीन रूप निर्माण कर लिया जाता है। इनमें से पहले प्रकार का रूप विधान आभ्यन्तर रूप प्रतीति और दूसरा कल्पना कहलाता है। वास्तव में इन दोनों का आधार है प्रत्यक्ष अनुभूति लिए हुए बाहरी रूप विधान। इस प्रकार से रूप विधानों की संख्या तीन हो गई -१. प्रत्यक्ष रूप विधान, २, स्मृति रूप विधान, ३. कल्पित रूप विधान। इन तीनों ही रूप विधानों में रसास्वादन कराने की शक्ति है। कल्पना के चित्र द्वारा एक चेतन मार्मिक अनुभूति होती है जो रस का अनुभव कराती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जाग्रत वास्तविक

अनुभूति भी विशेष दशाओं में रसानुभूति कराती है। भारतीय आचार्यों ने कल्पना के रूप-विधानों द्वारा ही रसानुभूति माना है परन्तु आचार्य शुक्ल अन्य दो रूप-विधानों स्मृति तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी रसानुभूति मानते हैं। इन दोनों द्वारा विशेष दशाओं के अन्दर रूप-विधान करने से रसानुभूति कराने की क्षमता आ जाती है।

प्रत्यक्ष रूप-विधान—जब हम किसी प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर उससे जितने अधिक प्रभावित होते हैं अथवा वह जितनी गहराई से हमारे अन्तस्तल को स्पर्श करती है वह उतनी मात्रा में हमें रसानुभूति करा सकती है। वह हृदय जो किसी अत्यन्त सुन्दर वस्तु को, प्रकृति की सुन्दरता जो वन, नदी में फैली हो, प्रस्फुटित होते कुसुम का सौंदर्य देखकर, पीड़ा में व्याकुल प्राणी को देखकर, किसी को अत्याचार से पीड़ित देखकर विभिन्न भावों से आर्द्र नहीं हो जाता, वह काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखता। वह सुन्दर से सुन्दर कविता द्वारा प्रभावित नहीं हो सकता। यदि ऐसा मनुष्य इस प्रकार की चेष्टा कर रहा हो तो वह सहृदयता की नकल करता है अथवा वह उस रचना के किसी ऐसे अंग की ओर आकर्षित है जो काव्य-उचित नहीं है। बहुत-से कवि भी इसी प्रकार के होते हैं, जो सच्चे भावुक कवियों की नकल बड़े सुन्दर रूप में करते हैं।

आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधानों से अर्थ केवल यही नहीं लेते कि आँखों द्वारा देखकर ही किसी वस्तु का ज्ञान हो, इसके अतिरिक्त वह वस्तु व्यापार में शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श भी लेते हैं। कवि केवल पुष्पों, पक्षियों के रंग, रूप-आकार का ही वर्णन नहीं करते, उसके साथ वह उनकी वाणी की कोमलता, सुगन्ध आदि का भी वर्णन करते हैं। सच्ची अनुभूति वाले कवियों की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु की ओर जाती है। वे खलियानों और अन्य स्थानों पर जाकर विभिन्न प्रकार की गन्धों का अनुभव करते हैं। वे कवि तुरन्त जोती भूमि की महक, वन में जानवरों द्वारा चरी दूब का भी हृदय-ग्राही वर्णन करते हैं। फ्रांसीसी उपन्यासकार जोला ने योरुप के कई नगरों और स्थानों की गन्ध की पहचान बताई हैं। कवियों ने तो कलियों के चटकने तक के शब्द का वर्णन कर दिया है।

क्योंकि काव्य शब्द-व्यापार है और शब्द-संकेतों द्वारा ही हृदय में उनकी अनुभूति कराने, उनका रूप स्थापित कराने का प्रयत्न करता है। इस कारण

काव्य-समीक्षकों और साहित्य-मीमांसक काव्य की प्रक्रिया से सम्बन्धित वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन कल्पना द्वारा ही करते हैं। इसके साथ पाठक तथा श्रोता को भी अपनी कल्पना-शक्ति का उपभोग करके मानस साक्षात्कार में उनके आलम्बन की सहायता से रसानुभूति करता है। कल्पना द्वारा कवि-कर्म को निरूपण होने पर विधान का कल्याण पक्ष ही दृष्टि में रहना और प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभूति की वातों को अलग रखना स्वाभाविक ही है। शुक्ल जी एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि एक प्रकार के रूप-व्यापार को हम विभिन्न स्थितियों बिल्कुल सजीव, चित्र-रूप में तथा काव्य-रूप में देखते हैं। प्रथम स्थिति के अतिरिक्त अन्य दो स्थितियों को अलग रख दिया। इस प्रकार प्रत्यक्ष या वास्तविक को एक ओर रख दिया। इस प्रकार प्रथम (प्रत्यक्ष) को स्थान न देखकर केशव जैसे कवि ने कला को अपनाया।

आचार्य शुक्ल कहते हैं कि योरुप में यह कला-भाव बहुत अधिक बढ़ गया। कवि ने प्रत्यक्ष या वास्तविक को त्यागकर अपना एक अलग 'काल्पनिक जगत' बना लिया। कला-समीक्षकों ने यह विचार उत्पन्न करने की चेष्टा की, कि जैसे कवि के कल्पना-जगत् में प्रत्यक्ष तथ्य नहीं है इसी प्रकार उस कवि की व्यंजित अनुभूतियाँ भी जीवन में प्राप्त नहीं हो सकतीं। इस प्रकार कला शब्द ने काव्य को केवल सजावट, तमाशा, मनोरंजन अथवा मनबहलाव की वस्तु बना दिया। शुक्ल जी कलावाद के विरुद्ध हैं और उनका विचार है कि प्राचीन आचार्यों ने काव्य को कलाओं में इसी कारण नहीं माना।

रसात्मक अनुभूति की विशेषता उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति से अलग करती है। यह विशेषता भारतीय साहित्य में साधारणीकरण के अन्तर्गत ली गई है। साधारणीकरण का अर्थ है कि आश्रय का (भाव-व्यंजना करने वाला पात्र) आलम्बन सभी सहृदयों का आलम्बन बन जाता है और उसी की भांति रसानुभूति करते हैं। इस स्थिति में सहृदय अपनी सत्ता भूल जाता है, अपने व्यक्तित्व का तिरोभाव करके निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा काव्य प्रस्तुत विषय को ग्रहण करते हैं। पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अहं का विसर्जन और निस्सँगता (Impersonality and detachment) कहा है। यही ब्रह्मानन्द सहोदर, चिन्मय आनन्द, विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व है।

इस प्रकार के शब्दों द्वारा पाश्चात्यों ने वाग्जाल की रचना की। डॉ० ब्रैडले, जिन्होंने 'कला कला के लिये' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, कहते हैं कि काव्य आत्मा है। डॉ० मकेल कहते हैं, "काव्य एक अखण्ड तत्त्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है।" बंगाली साहित्य के माध्यम से हिन्दी में भी कुछ इसी प्रकार का स्वर सुनाई पड़ता है।

शुक्ल जी का विचार है कि जिस प्रकार काव्य-वर्णित आलम्बन का कल्पना द्वारा साधारणीकरण होता है इसी प्रकार कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष आने पर लोक या सहृदय से हमारा तादात्म्य होता है और इसमें भी साधारणीकरण की भांति व्यक्तित्व तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार से आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने में कोई बाधा नहीं समझते। अन्य के भावों के आलम्बनों के साथ हमारा हृदय ऐसे ही तादात्म्य करेगा जैसे अन्यों का हमारे भावों के आलम्बनों से करता है। परन्तु यह अवश्य है कि वे प्रत्यक्ष आलम्बन मनुष्य मात्र के भावों को प्रभावित करने वाले हों। शुक्ल जी लिखते हैं, "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप से नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती।" रस में पूर्ण मानता के लिये भाव तथा विभाव दोनों पक्षों का सामाञ्जस्य आवश्यक है। इस प्रकार रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण शुक्ल जी देते हैं—

१. अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध की भावना का परिहार।

२. किसी भाव के आलम्बन का सहृदय-मात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।

यह दोनों बातें प्रत्यक्ष आलम्बनों से उत्पन्न भावों में से कुछ भावों के साथ कुछ अंशों में और कुछ में बहुत दूर तक घटित होती हैं।

जब कोई भी अनुभूति अत्यन्त गहन हो जाती है तो मनुष्य सब कुछ भूल कर रसलोक में पहुँच जाता है। परन्तु अभिलाषा अथवा औत्सुक्य आदि में अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रहने से वह रस कोटि के ही बाहर रहेगी। अत्यन्त मनोहारी वस्तु को प्रत्यक्ष देखकर कुछ क्षणों में कुछ प्रेम भावना, अच्छा लगना उत्पन्न हो जाती है परन्तु रति जैसे अनुभूतिपूर्ण विषय

के लिए प्रविष्टि के निमित्त कुछ समय अपेक्षित होता है। प्रेम की ही भाँति हास की भी यही स्थिति होती है। स्वार्थ के कार्य में उतना उत्साह नहीं होता जितना परमार्थ के कार्य में।

क्रोध, भय, जुगुप्सा तथा करुणा के भावों में इनके भावों के दुखात्मक होने के कारण रसास्वाद अथवा आनन्द-प्राप्ति में कुछ बाधा हो। शुक्ल जी कहते हैं इस भाव को व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना उचित नहीं। आनन्द हृदय की मुक्त दशा है और मुक्त दशा होने के कारण दुःख भी आनन्दस्वरूप है। क्रोध के ही भाव को जब हम व्यक्तिगत संकुचित क्षेत्र में देखते हैं तो उसमें रसात्मकता नहीं होती परन्तु लोकपीड़क के प्रति क्रोध में रसात्मकता होती है। घृणास्पद वस्तु को प्रत्यक्ष देख कर हमें स्थूल क्षोभ, संकोच होगा, परन्तु उसके लोकविघातक अनुभव करते ही भाव रसात्मक हो जायेंगे। शोक और करुणा के साथ भी यही स्थिति है। करुणा की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों तथा दशाओं में रसात्मक होती है। भवभूति ने करुण रस को ही रसानुभूति को भूल माना और अंग्रेजी कवि शेली ने कहा कि, "सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है, जो करुण प्रसंग लेकर चले।"

जब हम सुन्दर रमणीय प्राकृतिक दृश्यों, हरे-भरे टीलों, स्वच्छन्द नालों, रंगबिरंगे फूलों के गुच्छे देखते हैं तो हमारा हृदय जीवन की शुष्कता, संकीर्णता से दूर हो जाता है और रस-दशा की प्राप्ति होती है। जो यह अनुभूति नहीं करते उनके हृदय बहुत सकुचित एवं निम्न कोटि के होते हैं वह कविता से दूर होते हैं। इन समस्त तत्त्वों से शुक्ल जी यह बात सिद्ध करते हैं कि रसानुभूति तथा प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति में अन्तर नहीं। कोई पृथक् अंतर्वृत्ति नहीं, बल्कि वह उसका ही उदात्त एवं अवदात्त स्वरूप है। हृदय में वासना-रूप में स्थित भाव ही रस में परिणत हो जाते हैं।

स्मृत रूप विधान—जैसे प्रत्यक्ष रूप विधान हमें रसानुभूति करवाते हैं इसी प्रकार से भूतकाल की प्रत्यक्ष वस्तुओं का स्मरण भी रसात्मक होता है। हम अपने गत जीवन की बाल्यकाल की घटनाओं, मित्रों, प्राकृतिक दृश्यों आदि का स्मरण करके रसमग्न हो जाते हैं। शुक्ल जी स्मृति के दो रूप बताते हैं—१. विशुद्ध स्मृति २. प्रत्यक्षाश्रित स्मृति प्रत्यभिज्ञान।

१. **विशुद्ध स्मृति**—साधारणतः हम कितनी बातों का स्मरण करते हैं

परन्तु कुछ बातों का स्मरण हमें शुद्ध मुक्त भावभूमि में ले जाता है, जैसे प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवन काल के अतीत का स्मरण, विदेश में स्वदेश के स्थानों का स्मरण ऐसे ही हैं। स्मरण के स्थायी भाव से संबन्धित हो कर ही संचारी भाव माना गया है। रति, हास और करुणा से संबद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक कोटि में आता है।

रूप गुण से युक्त साहचर्य प्रेम का एक प्रबल कारण है। इस कारण हम लम्बी अवधि व्यतीत होने पर उन लोगों का स्मरण करके भी आनंदित होते हैं जिन्हें हम पसन्द नहीं करते थे। अत्यन्त महत्वहीन वस्तुएँ भी इसी साहचर्य के कारण हमारी स्मृति में मधुर रूप में आती हैं। हम जीवन के विभिन्न रूपों से संपर्क स्थापित करते चलते हैं और हमारा हृदय एक भाव सत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है। शुक्ल जी कहते हैं, "ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (transcend) स्वरूप का संकेत है। रागात्मक हृदय उसके व्यापक स्वरूप का ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है। राम या प्रेम की शक्ति से ही हमारी अंतस्सत्ता में अन्य व्यक्ति या वस्तु सम्मिलित होते हैं।

२. **प्रत्यभिज्ञान**—इसमें कुछ अंश प्रत्यक्ष का तथा कुछ स्मरण का रहना है। किसी बहुत पहले देखे व्यक्ति को किसी घटना-विशेष से संबंधित कर हम उसका स्मरण करते हैं। शुक्ल जी कहते हैं, "स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में रस संचार की बड़ी गहरी शक्ति होती है। बाल्याकाल या किशोरावस्था के मित्र को देखकर उससे संबन्धित मधुर स्मृतियाँ आ उमड़ती हैं। मन काल के आवरण का भेदन करके अतीत में पहुंच जाता है। प्राचीन कवियों ने भी प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान किया है। प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक स्थिति में व्यक्तित्व गौण हो जाता है और मन में आई वस्तु में मनुष्य रमा रहता है, मग्न रहता है। जब हम किसी वस्तु का विरुद्ध या विपरीत स्थिति में जैसे हरे भरे चहल-पहलपूर्ण स्थान को देखते हैं तो उस प्रत्यभिज्ञान में गहरा अनिर्वचनीय करुणा का स्रोत होता है। गोल्डस्मिथ का 'ऊजड़ ग्राम' ऐसी ही रचना है।

स्मृत्याभास कल्पना— शुक्ल जी कहते हैं यह वह कल्पना है, "जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है,' यह वह वस्तुएँ या बातें होती हैं जो पहले देखी हुई नहीं हैं बल्कि केवल सुनी हुई या पढ़ी हुई होती हैं अथवा इनके सम्बन्ध में अनुमान कर लिया जाता है, अपने अतीत

को कल्पना भावुकों की स्मृति के समान सजीवता प्रदान करती है और ऐसा भी होता है कि किसी बचे हुए चिह्न के कारण वह प्रत्यभिज्ञान का रूप भी धारण कर लेती है। इस प्रकार की कल्पना की विशेष मार्मिकता का कारण है सत्य का आधार जो इतिहास या शुद्ध अनुमान होता है।

अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की भांति समष्टि-रूप नर जीवन की स्मृत्याभास कल्पना भी मधुर होती है। यह कल्पना इतिहास के किसी संकेत पर जाग्रत होती है। इतिहास के द्वारा वर्तमान के समष्टि-रूप मानव का एक व्यापक और अखंड सम्बन्ध अतीत के मानव से तथा उसकी क्रियाओं से रहता है। इतिहास की कोई घटना स्मरण आने पर हम उस घटनास्थल पर मानसिक रूप से पहुंच जाते हैं, अपनी कल्पना के द्वारा कितनी ही बातें सोचते हैं। एक विशिष्ट ऐतिहासिक स्थान को देखकर कहते हैं कि कभी इस स्थान पर यह होगा, वह होगा आदि।

आचार्य शुक्ल कहते हैं, "सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ-साथ जिस में जितनी ही गहरी भावुकता होगी, जितनी तत्पर कल्पना-शक्ति होगी, उसके मन में उतने ही अधिक ब्योरे आएंगे और पूर्ण चित्र खड़ा होगा।" ऐतिहासिक ध्वंसावशेषों तथा पुस्तकों के अध्ययन से ही कितनी कल्पनाएं उनके सम्बन्ध में कर ली जाती हैं। परन्तु इतिहास-कथित बात के साथ-साथ हमें अनुमान की सहायता भी, रीति-रिवाज, वेशभूषा, संस्कृति आदि की कल्पना के सम्बन्ध में लेनी होती है।

इस ऐतिहासिक कल्पना के अतिरिक्त एक वह प्रत्यभिज्ञान रूप कल्पना भी होती जो पूर्णतया अनुमान पर आधृत होती है। एक ऐसे खण्डहर के सम्बन्ध में हम कितनी ही बातें अनुमान से सोच लेते हैं यद्यपि न तो हमने इसके सम्बन्ध में सुना होता है न ही पढ़ा होता है। केवल कुछ चिह्नों के आधार पर ही हम सोच लेते हैं यह वही स्थान है जहाँ रमणियों का हास विलास तथा बालकों की क्रीड़ा होती थी। यह रूप का व्यापार हमारे जिस भाव का आलम्बन होते हैं उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।

कितना ही कुछ करें परन्तु अतीत की ओर मनुष्य का हृदय स्वाभाविक रूप से चला जाता है। उस अतीत में हृदय एक मुक्ति, स्वच्छन्दता का अनुभव करता है, वर्तमान के बन्धन कुछ क्षणों के लिए टूट जाते हैं। शुक्ल जी बीती बातें विस्मरण कर देने के हक में नहीं हैं। वह कहते है, बीती बिसारने का

अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन, सहृदयता और भावुकता का अंग—केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीड़ा।"

हम अतीत में क्यों रुचि लेते हैं यह एक प्रश्न है? वह अतीत की स्मृतियाँ केवल सुख-दुःखपूर्ण समय की झाँकियाँ नहीं हैं। अतीत के रूप तथा व्यापार हमें लीन करके मर्मस्पर्श- करते हैं बस यही कह सकते हैं। इतिहास की मूर्त बातों का मानव हृदय पर बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ता है और इसका कारण है सत्य। सत्य से ही प्रेरित होकर हमारी कल्पना स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इसी सत्य के आधार पर संस्कृत कवि इतिहास और पुराण के किसी प्रसंग को लेकर सुन्दर और मार्मिक महाकाव्य और नाटक लिखते थे।

बहुत-सी बातें जो इतिहास-प्रसिद्ध हैं और प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं परन्तु परम्परागत विश्वास के आधार पर चली आ रही हैं वह भी स्मृतिस्वरूप कल्पना का आधार हो जाती हैं, परन्तु ऐसी घटना अथवा बात के प्रति यदि पूर्णतया विरुद्ध प्रमाण प्राप्त हो जायगा तो विश्वास विचलित होने से कल्पना में सजीवता नहीं होगी।

अतीत में ही मानव जीवन का शुद्ध स्वाभाविक रूप देखा जा सकता है। व्यक्तिगत राग द्वेष से बद्ध वर्तमान में नहीं। उन बीती हुई बातों तथा घटनाओं में मनुष्य को बहुत कुछ अपनी ही कहानी, अपना सम्बन्ध प्राप्त होता है। बहुत-से व्यक्तियों के स्मारक हमारे मन में घृणा तथा प्रेम के भाव जाग्रत करते हैं। मनुष्य अपनी सत्ता का कोई न कोई चिह्न छोड़ जाना चाहता है। इसमें अमरत्व की भावना अथवा इच्छा लक्षित होती है। मनुष्य अपना आभास भविष्य में आने वाली पीढ़ियों को अपने स्मारक द्वारा देना चाहता है।

सम्राटों की अतीत जीवनलीला के ध्वंसावशेष जीवन की विषमता के चित्र उपस्थित करते हैं। कभी जीवन में उत्थान आता है कभी पतन। उनके उत्थान का चित्र जितना विस्मयपूर्ण और कुतूहलपूर्ण दिखाई देता है, उनके पतन का चित्र उतना ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी होता है। इस उत्थान को पतन के रूप में कोई मनुष्य कुतूहल की भावना से और कोई गम्भीर सहानुभूति के साथ अनुभव करता है।

जीवन में उत्थान-पतन प्रत्येक ही छोटे-बड़े मनुष्य के जीवन में आते हैं।

सुख या दुःख कोई पक्ष स्थिर नहीं। जीवन की इसी विषमता के चित्र अपनी दृष्टि के सम्मुख रखकर कोई भावुक हृदय जिस हर्ष और शोक की धारा में वहता है अन्यों को भी उसकी अनुभूति कराना चाहता है। इस अनुभूति से वर्तमान का रागद्वेष, अपने-पराये की भावना से हृदय कुछ समय के लिए मुक्त हो जाता है। अतीत के सम्बन्ध में मनुष्य का ध्यान सर्वाधिक ऐतिहासिक व्यक्तियों, राजकुलों के जीवन की ही ओर जाता है क्योंकि उनके कुछ अवशेष दिखाई पड़ जाते हैं। पुस्तकों में उनका वर्णन होता है। इसके सम्बन्ध में जीवन की दो विशेषताओं पर ध्यान जाता है—सुख-दुःख सम्बन्धी तथा उत्थान-पतन सम्बन्धी। जिसका ध्यान जीवन के सुख-दुःख की विषमता की ओर जाएगा वह एक ओर जीवन के भोग पक्ष, विषय विलास, कला सौन्दर्य, राग रंग - और दूसरी ओर जीवन के अवसाद, नैराश्य, कष्ट, वेदना इत्यादि का दृश्य मन में लाएगा। शुक्ल जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "सुख और दुःख के वीच का वैषम्य जैसा मार्मिक होता है वैसा ही उन्नति और अवनति, प्रताप और ह्रास के वीच भी। इस वैषम्य-प्रदर्शन के लिए एक ओर तो किसी के पतन-काल के सामर्थ्य, दीनता, विवशता, उदासीनता इत्यादि के दृश्य सामने रखे जाते हैं, दूसरी ओर उसके ऐश्वर्य काल के प्रताप, तेज, पराक्रम इत्यादि के वृत्त स्मरण किये जाते हैं।"

मनुष्य वस विषय तथा दुःखमय संसार में सुख-प्राप्ति की प्रत्येक चेष्टा करता है। वह शक्तिशाली सुखेच्छा संसार में कितने ही परिवर्तन करती आ रही है, वह अनन्त है, आनन्द की अनन्त अभिलाषा का प्रतीक है। इस संसार के प्रत्यक्ष जीवन के अतिरिक्त वह कल्पना का सुखमय संसार रच डालती है। इस सुखेच्छा को चतुर्वर्ग 'काम' कहते हैं। अर्थ और काम का गहरा सम्बन्ध है। जीवन इन्हींमें विभाजित है। इनका सफल सामंजस्य ही सफल जीवन का लक्षण है जो पूर्ण रूप से अर्थ प्राप्ति की साधना में मस्त रहेगा वह हृदयहीन हो जायगा और कामचर्या में लिप्त भी किसी काम का नहीं रहेगा।

कल्पना - आजकल काव्य-विधान में कल्पना का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान **माना जाता** है। भाव का महत्व कुछ कम हो गया है, इस विचार पर शुक्ल जी कहते हैं, "काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है। हृदय के मर्म

स्थल का स्पर्श तभी होता है जब जगत या जीवन का कोई सुन्दर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है। इसी दशा में कोई भाव जाग्रत होकर उस तथ्य को मार्मिकता का पूर्ण अनुभव करने और कराने के लिए विशिष्ट ब्योरों की मूर्त भावनाएँ उपस्थित करता है। कल्पना का यह व्यापार विभाव पक्ष के अन्तर्गत आता है। शृंगार, रौद्र, वीर, करुण आदि रसों के आलंबनों और उद्दीपनों के वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन सब इसी विभाव पक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

क्योंकि समस्त रूप-विधान कल्पना से होता है इस कारण अनुभवों द्वारा जो रूप आश्रय को दिया जाता है वह भी कल्पना-प्रदत्त होता है। परन्तु भावों का स्पष्टीकरण करने वाली शारीरिक चेष्टाएँ सीमित होती हैं। उनमें नवीनता के लिए स्थान नहीं होता, परन्तु आश्रय के वचनों की अनेकरूपता की सीमा नहीं क्योंकि यह कवि द्वारा कल्पित होते हैं। वचनों द्वारा अनन्त भाव-व्यंजना बिना किसी बन्धन के की जा सकती है। मन के आवेग का प्रवाह स्वच्छन्द होकर बहता है। प्रेमिका के लिए प्रेमी आकाश के तारे तोड़ लाता है। क्रोध में मनुष्य शत्रु की चटनी बना देता है। परन्तु ऐसी लोकोत्तर कल्पना में वस्तुव्यंजना के कारण विभिन्नता-मात्र ही रह जाता है, मार्मिकता नहीं।

शुक्ल जी उन वस्तुओं को, जो हमारे हृदय में सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं विभाव पक्ष के अन्तर्गत ही लेते हैं। इन भावों को एकत्र करके कवि कभी-कभी लोकोत्तर योजना करते हैं। इस प्रकार के लोकोत्तर उत्कर्ष के दृष्य कल्पना ही हृदय में तैयार करती है। कविता ही इसे (कल्पना को) इस ओर प्रवृत्त करती है। कुछ लोग स्वप्न की अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यंजना की भांति ही कविता को बताते हैं। हमारी अतृप्त इच्छाएँ ही कविता के रूप में व्यक्त होती हैं और श्रोताओं को भी तृप्त करती हैं। परन्तु काव्य बिलकुल ही स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। केवल साम्य इतना ही है कि स्वप्न की भाँति काव्य-वस्तु भी बाह्य इन्द्रियों के सम्मुख नहीं रहती। इसके अतिरिक्त स्वप्न तथा कविता की प्रतीति में भी अन्तर होता है। स्वप्न से साम्य वाले सिद्धांत का एक अंग कामवासना का सिद्धान्त है जिसके अनुसार काव्य का संबंध और कलाओं के समान कामवासना की तृप्ति से है। काव्य के संबन्ध

में इस प्रकार का मत काव्य को ललित कलाओं में गिनने के परिणामस्वरूप ही है। भारतीय विचारधारा से इसे कलाओं के अन्तर्गत नहीं माना जाता।

काव्य के अप्रस्तुत पक्ष की योजना भी कल्पना से तात्पर्य अप्रस्तुत-विधायिनी से ही है। प्रस्तुत की भाँति अप्रस्तुत की योजना भी भावों के आधार पर ही होगी। आंतरिक भावों की तीव्रता में सहायक होगी तो काव्य प्रयोजन की होगी अन्यथा बाह्य रूप वर्णन, काव्य प्रयोजन तथा भाव उत्पन्न करने में बाधक होगी। आकार के आधार पर किया अप्रस्तुत विधान सौंदर्य की सत्य भावता लिए नहीं होता। शुक्ल जी कहते हैं कि "यह देखकर संतोष होता है कि हिन्दी की वर्तमान कविताओं में प्रभाव-साम्य पर ही विशेष दृष्टि रहती है"।

कल्पना भाषा शैली को व्यंजक और मार्मिक एवं चमत्कारपूर्ण बनाती है। इस सम्बन्ध में भाषा की लक्षणा, व्यंजना शक्ति कल्पना की सहायता करती है। कवि लक्षणा की सहायता से साधारण भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करते हैं। ब्रज भाषा के कवि घनानन्द इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ—

१. अरुसानि गही वह बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत है।

यहाँ पर बानी धीमी या शिथिल हो गई—इस कथन में व्यजकता न प्राप्त होने पर यहाँ पर कृष्ण का आलस्य न कह कर उनके स्वभावं का बात (स्वभाव, आदत) का आलस्य करना कहा है।

२. उजरिन बसी है हमारी अँखियानी देखो सुवस सुदेश जहाँ भावत बसत हो।

हमारी आँखों में उजाड़ वसा है अर्थात् आँखों के सामने शून्य दिखाई पड़ता है। यहाँ विरोध का अत्यन्त आकर्षक चमत्कार है।

वर्तमान समय में हमारी भाषा में इस लाक्षणिक वक्रता की प्रवृत्ति है जो हमारी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति के प्रसार में सहायक होगी। श्री सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं--

१. मर्म पीड़ा के हास।

इसमें विरोध का चमत्कार है। पीड़ा के हास से तात्पर्य पीड़ा का प्रसार विकास अथवा वृद्धि है।

२. लाज में लिपटी उषा समान।

लाज का अर्थ यहाँ लाज से उत्पन्न लालिमा से है।

इस प्रकार के उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी कहते हैं, "काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है।" जैसे ही काव्य की कोई उक्ति श्रोता सुनता है और वैसे ही उस उक्ति में कथित रूप उसके सामने आ जाता है तो वह (श्रोता) पूर्ण तन्मयता प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न ३४. प्रत्यक्ष रूप विधान से क्या तात्पर्य है ? इसमें रसास्वाद किस प्रकार होता है, स्पष्ट कीजिये।

अथवा

काव्य विधान में प्रत्यक्ष रूप विधान का क्या महत्व है ? इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर - किसी भी वस्तु का अधिक प्रभावशाली होने के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रिय-अनुभूत हो, परन्तु बाह्य इन्द्रिय-अनुभूत हो। जिस वस्तु को हम अपने सामने मूर्त रूप में देखते हैं वह ही हमारे हृदय को उन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रभावित करती है जो हम स्मृति अथवा कल्पना द्वारा मन में लाते हैं। प्रत्यक्ष रूप विधान ही काव्य में अधिक भावुकता को भर देता है। जो कुछ भी प्रत्यक्ष रूप हम देखते हैं, और इस रूप की जितनी मार्मिक तथा गहरी अनूभूति हमें होगी वह उतनी ही मात्रा में रसानुभूति कराने के योग्य होते हैं। हम प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को, वनस्थलि सुषमा, फूलों की शोभा आदि देखते हैं, किसी कष्ट में पड़े हुए प्राणी को देखते हैं, किसी अत्याचारी क्रूर पुरुष को, किसी निर्बल, असहाय व्यक्ति पर अत्याचार करते देखते हैं तो हमारा हृदय विभिन्न दुःख-सुख के भावों से प्लावित हो जाता है। जो प्राणी ऐसा अनुभव नहीं करते वह काव्य की सच्ची भावना को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। वह उत्तम से उत्तम काव्य को भी नीरस वस्तु समझ कर छोड़ देंगे। काव्य का आस्वादन कराने में भाव का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। बहुत-से कवि तथा पाठक भावुक बनने की चेष्टा करते हैं तथा बाहरी दिखावा करते हैं। बहुत-से कवि उच्चकोटि के कवियों का अनुकरण करते हैं और स्वयं भी अच्छे कवि कहलवाते हैं। परन्तु उनकी रचना का अध्ययन करने वाली सूक्ष्म दृष्टि यह पता लगा लेती है कि काव्य-रचना में कवि के हृदय ने कहाँ तक सहयोग दिया है। सच्चे कवि बहुत ही

कम होते हैं, ऐसे कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव में कल्पना के अनुकूल रूप विधान में तत्पर करती है।

आचार्य शुक्ल एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करते हैं कि प्रत्यक्ष से यहाँ पर अभिप्राय चाक्षुष ज्ञान से नहीं है। केवल स्थूल से ही अर्थ नहीं है। जब शब्द रूप का प्रयोग करते हैं तो उसके अन्तर्गत शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श भी आता है। कविता में वस्तु व्यापार वर्णन में हम देखते हैं कि कवि जहाँ पुष्प के सौंदर्य का, उसके आधार, प्रकार, रंग, रूप का वर्णन करता है वहाँ उससे निकलने वाली मीठी सुगन्धि का भी वर्णन करता है, यद्यपि वह उसको आँखों से नहीं देख सकता। लेखक या कवि की धारण शक्ति वस्तु विषय के वर्णन में सूक्ष्मता की बड़ी सहायक होती है, वह विभिन्न स्थानों की सुगन्धित अथवा गन्ध की अनुभूति करके उनका काव्य में बड़ा ही सुन्दर वर्णन करते हैं। योरुप की उपन्यासकार जोला की गंधानुभूति बड़ी ही सूक्ष्म थी। कवि वर्षा ऋतु में मेढकों के टर्र-टर्र करने का, पतझड़ में गिरे हुए पत्तों का, वसंत में फूटती कोंपलों तथा विकसित होती कलिका का बड़ा ही मनोहारी चित्रण करते हैं। प्रत्यक्ष रूप विधान में भी कल्पना की सहायता की आवश्यकता होती है क्योंकि उसमें हृदय के भाव मिश्रित हो जाते हैं। श्रोता या पाठक भी कल्पना द्वारा कवि के प्रत्यक्ष रूप विधान का आस्वादन करता है। काव्य में शब्द व्यापार द्वारा ही वस्तुओं तथा व्यापारों का मूर्त चित्रण करने की सफल चेष्टा की जाती है। इस कारण काव्य में वर्णित विषय कल्पना द्वारा ही गृहीत होता है। कल्पना के ही कारण कवि काव्य में मंगल कामना करता है, वह अमंगल में भी मंगल और कल्याण पक्ष का ध्यान रखता है। क्योंकि वह कल्पना में आनन्द की अनुभूति करता है और वही पाठक को भी प्रेषित करता है। शुक्ल जी इस कल्पना के प्रत्यक्ष रूप विधान का प्रभाव एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। हम किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री को देखते हैं, उसके पश्चात् किसी चित्रालय में वैसी सुन्दर रमणी का चित्र देखा और लुब्ध हुए। इसके पश्चात् कहीं किसी पुस्तक में वैसी ही किसी नायिका का वर्णन पढ़ा। हम उस स्त्री के स्थूल रूप में देखने को विस्मृत कर देते हैं और कलागत या काव्यगत होने के कारण केवल चित्र में देखी और पुस्तक में पढ़ी वैसी ही नायिका का ध्यान करते हैं। इसका एक कारण विशेष यह है कि कवि ने कविता में उस स्त्री का सूक्ष्म रूप चित्रण किया जिसकी कल्पना

हमारे सम्मुख आती है, परन्तु स्थूल रूप में देखी रमणी में हम उन सूक्ष्मताओं की ओर ध्यान नहीं लगा सके जो कवि ने वर्णित की हैं। इस कारण अब उन सूक्ष्मताओं का ज्ञान होने से हमें अधिक आनन्द आता है। केशव कवि जैसे शब्द-व्यवसायी को वस्तु विषय को प्रत्यक्ष देखने में कोई आनन्द नहीं आता था, वह तो केवल काव्यों में उनका वर्णन करना ही पसंद करते थे। इसी कारण उनके काव्य में मार्मिकता का अभाव है, केवल नीरस शब्द-जाल है।

इस प्रकार का शब्द-व्यवसाय योरुपीय काव्य में बड़ा ही प्रबल रहा। कवि ने कल्पना जगत में ही वास कर लिया। वह प्रत्यक्ष को पूर्ण रीति से त्याग बैठा, यही कारण है वह कविता कला सौन्दर्य ही लिये हुए है, भावों से खाली है। क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन से भावों का उद्वेग अधिक प्रबल और सजीव होता है। पश्चिम के कला-समीक्षकों का विचार यहाँ तक पहुँच गया कि कल्पना द्वारा व्यंजित अनुभूतियों को जीवन की; वास्तविक अनुभूतियों से मिलना आवश्यक नहीं। वह कल्पना और प्रत्यक्ष जीवन दोनों को अलग-अलग सोचने लगे। इस प्रकार काव्य का भावपक्ष नष्ट हो गया। केवल कलागत बोधपक्ष ही शेष रह गया, इस कारण कविता का स्तर गिर गया, वह आनन्द और रसास्वादन कराने वाली न रहकर शोक और मनोरंजन की वस्तु ही रह गई। यह कला की प्रवृत्ति हमारे साहित्य में भी आने लगी, यद्यपि भारतीय शास्त्रों में काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं समझा गया।

रसानुभूति में भावों का स्थान प्रमुख है। भावों द्वारा ही इसका वर्द्धन होता है, वही रस का संचार करते हैं और उसकी अनुभूति करने में, उसका आस्वाद कराने में सहायक होते हैं। यह भाव स्थूल तथा प्रत्यक्ष नहीं होते, केवल अनुभूति का विषय होते हैं। रस भी अनुभूति का विषय है, उसका कोई प्रत्यक्ष स्थूल मूर्त्तरूप नहीं है, वह तो हृदय को आनन्दावस्था में लीन करने वाला तत्व है। यही कारण है कि रसानुभूति अपनी इसी विशेषता के कारण प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से भिन्न होती है। इसी विशेषता के आधार पर भारतीय काव्य शास्त्र में साधारणीकरण का सिद्धान्त स्थापित किया गया, जिसके द्वारा कवि आलम्बन की सहायता से अपने भावों का प्रेषण पाठक, श्रोता या दर्शक को करवाता है। आलम्बन जहाँ

आश्रय को रसास्वाद करता है वहाँ वह समस्त पाठकगण को भी उसका आस्वाद करवाता है। इस सब कथन का सार यह है कि पाठक, श्रोता या दर्शक अपनी सत्ता को विस्मृत कर देते हैं। उनका व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है। वह आश्रय के साथ ही आलम्बन में लीन हो जाते हैं। शुक्लजी इस स्थिति को हृदय की मुक्त-दशा कहते हैं। पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में यह मुक्त दशा या सत्ता का तिरोहित होना, अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and detachment) कहा जाता है। यही अलौकिक आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर आदि कहलाता है। हमारे यहाँ आलौकिकत्व का अर्थ यह नहीं कि उस वस्तु या विषय का इस जगत से कोई सम्बन्ध नहीं, यद्यपि पश्चिम में इस बात को लेकर एक वागाडम्बर काव्य में खड़ा किया गया, काव्य को इस जगत से परे की वस्तु माना गया। इसी सिद्धान्त के पोषक डा० ब्रेडले ने कहा, 'काव्य आत्मा है' (Poetry is a spirit)। डा० मकेल (Mackail) ने इस सम्बन्ध में कहा कि, "काव्य एक अखण्ड तत्व या शक्ति है, जिसकी गति अमर है (Poetry is a continuous substance of energy whose progress is immortal)।" कला के प्रभाव के कारण ही कॉलरिज (Coleridge) जैसे कवि ने कविता को उत्तमोत्तम शब्दों का क्रम-विधान कहा है (Poetry, the best words in the best order)। इस प्रकार पश्चिम में काव्य को केवल कला स्वीकार करके कितने ही वादों का प्रचार हुआ, जो कुछ समय रह-रह कर समाप्त हो गये। बग भाषा पर पश्चिम का प्रभाव होने के कारण हिन्दी कविता में भी कलावाद का प्रभाव आ गया। परन्तु शुक्ल जी का मत है कि काव्य केवल कला ही नहीं है। इस प्रत्यक्ष जगत का काव्य से गहरा सम्बन्ध है।

जिस प्रकार काव्य वर्णित आलम्बन का साधारणीकरण होता है उसी प्रकार पाठक के भावों के कुछ आलम्बन यद्यपि प्रत्यक्ष आ जाते हैं और उनके साथ तथा सहृदयों के हाथ हमारा (पाठक) तादात्म्य हो जाता है। हमारे भावों के प्रत्येक आलम्बन हमारे तथा लोक के आलम्बन भी रहते हैं। साधारणीकरण की भाँति प्रत्यक्ष अनुभूति में भी हमारे हृदय को मुक्त दशा प्राप्त हो जाती है। व्यक्तित्व का परिहार हो जाता है, अहं का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार यह भी रसात्मक अनुभूति हो सकती है। परन्तु एक शर्त इस सम्बन्ध में यह है कि वह प्रत्यक्ष विषय सहृदय मात्र भी भावात्मक

सत्ता पर प्रभाव डालने वाला हो। काव्य में रसास्वाद कराने के लिये यह बात अत्यन्त आवश्यक है। वह विषय सबके आलम्बन होने पर ही रसास्वाद करवा सकता है। काव्य में यदि कोई पात्र किसी कुरूप, दुःशील स्त्री को प्रेम करता है तो श्रृंगार रस का आस्वादन नहीं करवा सकेगा। उसमें विभावन व्यापार का नितान्त अभाव होगा। केवल भाव व्यंजना मात्र ही रहेगा। भाव तथा विभाव का सामञ्जस्य ही रस में पूर्ण मग्न कर सकता है। भाव व्यंजन काव्यों में श्रोता या पाठक अपनी ओर से कोई आलम्बन अपनी कल्पना और रुचि से स्थित कर लेते हैं। इस प्रकार रसानुभूति के दो लक्षण हुए—

१. काव्य का रसास्वादन करते समय अपने अहं, अपनी पृथक सत्ता, अपने-पराये की भावना का परिहार हो जाता है।

२. काव्य में वर्णित आलम्बन के प्रति समस्त सहृदय समाज का तादात्म्य हो जाता है अथवा सबमें उसी भाव का उदय होता है जो आलम्बन का है।

यदि हम साधारणीकरण सिद्धान्त के उपर्युक्त दोनों तथ्यों के आधार पर इनकी कसौटी पर, प्रत्यक्ष उपस्थित आलम्बनों के प्रति उगाने वाले भावों की अनुभूतियों पर आरोपित करके देखें तो इस परीक्षण द्वारा हमें यह ज्ञात होगा कि यह बातें कुछ ही भावों पर, कुछ ही दशाओं में अथवा कुछ अंशों में घटित होती हैं। कुछ भावों में तो बहुत दूर तथा कुछ में बराबर। कुछ ही भावों में, कुछ अंशों में मुक्त अवस्था तथा तादात्म्य का अनुभव होता है। उदाहरणस्वरूप 'रति भाव में' मनुष्य प्रेम की गहरी अनुभूति के कारण परलोक में पहुँच जाता है, वह विभिन्न संचारियों की अनुभूति करता हुआ अपने अस्तित्व को विस्तृत कर बैठता है, वह उसी भाव में लीन हो जाता है। परन्तु अभिलाषा तथा औत्सुक्य आदि की दशाओं में, अन्तःकरण में जितना अधिक अपने व्यक्तित्व का भाव रहेगा, रस की अनुभूति उतनी ही हल्की होगी। शुक्ल जी इस सम्बन्ध में एक और बात की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, "आलम्बन के साधारणीकरण के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए, कि रतिभाव की पूर्ण पुष्टि के लिए कुछ काल अपेक्षित होता है। पर अत्यन्त मोहक आलम्बन को सामने पाकर कुछ क्षणों के लिए दो प्रेम के प्रथम अवयव का उदय एकसाथ बहुतों के

हृदय में होगा। वह अवयव है अच्छा या रमणीय लगना।" हास के भाव में भी यही बात होती है, जैसे ही उसका पात्र सामने आता है सहृदय उससे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

स्वार्थ के लिए किया हुआ विकट कर्म अथवा कठिनतम कार्य भी संकीर्णता की भावना (क्योंकि यह लोक हृदय को प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखता) के कारण रसानुभूति नहीं करवा सकेगा। परन्तु जो व्यापक भाव, लोक-कल्याण की भावना लिए होगा उसके प्रति हमारा हृदय उत्साहित होगा, वह संकुचित क्षेत्र में सीमित नहीं रह सकेगा। जब मनुष्य अपने लिए कोई कार्य करता है तो उसमें वह उत्साहित नहीं होता जैसा लोक कल्याण के लिए करते हुए शुक्ल जी उदाहरण देते हैं, "स्वदेश प्रेम के गीत गाते हुए नवयुवकों के दल जिस साहस-भरी उमंग के साथ कोई कठिन या दुष्कर कार्य करने के लिए निकलते हैं, वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।"

अब एक समस्या रसात्मक आनन्द की अनुभूति के सम्बन्ध में आती है। करुणा, क्रोध, जुगुप्सा आदि की वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है, जब कि रसास्वादी आनन्द-स्वरूप है। सम्भव है इसी कारण भारतीय आचार्य रामचन्द्र ने समस्त रसों को दो वर्गों में विभाजित कर दिया—शृंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शांत में पांच रस अनुकूल-वेदनीय होने के कारण सुखात्मक वर्ग में रखे हुए तथा करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक, ये चारों प्रतिकूल-वेदनीय होने से दुःखात्मक वर्ग में रखे गए। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध में कहते हैं कि आनन्द शब्द को संकीर्ण क्षेत्र में, व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में नहीं लेना चाहिए। उसका तो अर्थ व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त अपनी क्रिया में तत्पर हृदय है। इस हृदय की मुक्त दशा के कारण ही दुःख भी रसात्मक होता है। उदाहरणार्थ हम किसी ऐसे व्यक्ति पर क्रोध करते हैं जिसने हमारे किसी सम्बन्धी को कष्ट दिया, तो यह क्रोध रसात्मक नहीं होगा। परन्तु यदि किसी लोक-पीड़ित पर क्रोध करते हैं तो यह रस कोटि के अन्तर्गत आएगा। शोक के भाव को लेकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी। जब अपनी इष्टहानि या अनिष्ट होता है तो शोक भाव वास्तव में दुःख होगा, वह रस कोटि में नहीं आएगा। यह दूसरों को यदि प्रभावित करेगा तो रस कोटि में उनके लिए आएगा हमारे लिए नहीं

अथवा यों कहिए जब हमें किसी की पीड़ा या दुःख देखकर करुणा आती है तो वह सच्ची रसानुभूति होगी। यही मुख्य अन्तर है। इसी अन्तर के कारण आश्रय की शोकपूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को हम शोक रस न कहकर करुणा रस कहते हैं। करुणा रस बड़ा ही व्यापक क्षेत्र ग्रहण किये हुए है। भवभूति ने तो केवल करुणा को ही रस माना। अंग्रेज़ी कवि शेली ने कहा कि 'सबसे मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो करुण प्रसंग लेकर चले।''

क्या प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा दृश्य को देखकर हमें रसानन्द प्राप्त नहीं होता ? शुक्ल जी कहते हैं, होता है, क्योंकि हम शुष्क तथा नीरस जीवन से दूर हृदय की मुक्त अवस्था में होते हैं। हम इस संसार-रूपी नाटक में सदैव ही पात्र या अभिनेता के रूप में नहीं रहते, बल्कि कभी-कभी दर्शक भी बन जाते हैं और रसास्वादन प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य इस स्थिति या दशा में आनन्द नहीं लेते वे संकुचित हृदय या निम्नकोटि के हृदय वाले होते हैं। वे काव्य का आस्वादन नहीं कर सकते। शब्द-काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है। जब हम किसी वस्तु का सूक्ष्म अध्ययन करके उसको विषय बनाकर काव्यरचना करते हैं तो वह सफल होगी अन्यथा नहीं, क्योंकि उस स्थिति में वह वस्तु की वास्तविकता से दूर होगी। इसलिए प्रत्यक्ष रूप-विधान में वह वस्तु-अनुशीलन अत्यन्त ही आवश्यक है। यही कारण है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति का उदात्त और अवदात्त स्वरूप होती है। मन में स्थिति वासना ही भावों को जाग्रत् करके रस का आस्वादन करती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूपविधान भी विशेष दशाओं में रसास्वदन कराता है। यही काव्य में इसका सर्वोच्च महत्त्व है।

प्रश्न ३७ - कल्पना द्वारा आप क्या समझते हैं ? कल्पना का अर्थ स्पष्ट करते हुए काव्य में उसका महत्त्व बताइये।

उत्तर—आधुनिक काल में कल्पना का बड़ा प्रभाव रहा है और इस समय भी कल्पना काव्य-विधान में अपना स्थान ग्रहण किए हुए है। कवि इसे कविता के लिए आवश्यक अंग मानने लग गए। पश्चिम में स्वछन्दतावाद के युग से कल्पना ही कविता की सृष्टि का एकमात्र तत्त्व माना जाने लगा।

यह काव्य का बोध-पक्ष है । भाव-पक्ष का भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य में महत्त्व है क्योंकि रसास्वादन इसी के द्वारा होता है, बोध-पक्ष में वह मार्मिकता नहीं होती है । भारतीय विद्वानों ने कल्पना को गौण स्थान दिया ।

कल्पना है क्या प्रश्न यह है ? कल्पना का मूलाधार कवि की पूर्व अनुभूति है । वह इन्हीं अनुभूतियों को एक विशिष्ट रूप में संयोजित करता है और इस पुनर्योजना से अपूर्व अनुभूति उत्पन्न होती है । इसी अपूर्व अनुभूति को उत्पन्न करने की शक्ति या क्रिया कल्पना कहलाती है । जो वर्तमान का अवगाहन करता है अथवा चित्रण किया जाता है वह प्रत्यक्ष विधान है । अतीत अवगाहन स्मृति करता है तथा 'अनागत' का अवगाहन 'कल्पना' करती है । मनोवैज्ञानिक विचार के अनुसार अचेतन अनुभूतियों से भी कवि तथा कलाकार अपनी रचना के लिए उपकरण प्राप्त कर लेते हैं । इन उपकरणों अथवा सामग्री का संकलन कल्पना की सहायता से होता है । ललित-कलाओं में भी नवीनता कल्पना के द्वारा ही आती है । चित्रकार कल्पना की सहायता से एक अतीव सुन्दर चित्र को बनाता है । साथ ही सुन्दरता की योजना में भी कल्पना मुख्य भाग लेती है । उसमें सन्तुलन और भाव एकता भी इसके द्वारा ही आती है ।

किसी भी काव्य के विषय का रूप-विधान कल्पना के ही द्वारा होता है । परन्तु पश्चिम में भाव को दबाकर कवि नूतन की सृष्टि इसके द्वारा करता है । परन्तु भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य के प्रयोजन की कल्पना तो वही होती है जोकि हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त हो और हृदय को प्रभावित करती है । इस प्रकार उसमें सत्यानुभूति और सात्विकता का समावेश होगा । काव्य-हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श तो उसी दशा में करेगा, जब कि जगत् अथवा जीवन का कोई सुन्दर रूप मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है । ऐसी स्थिति में काव्य के तथ्य से मन में कोई भाव जाग्रत होता है जो कि काव्य में वर्णित वस्तु का अनुभव करने और कराने के लिए उसके कुछ चुने हुए स्थलों की सजीव और मूर्त्त भावनाएं पाठक या श्रोता के सम्मुख ला देता है । यह बात विभाव-पक्ष से सम्बन्धित है क्योंकि इस प्रकार की कल्पना प्रस्तुत से सम्बन्धित है । आलम्बनों की चेष्टाओं अर्थात् विभाव को कल्पना द्वारा ही मूर्त्त तथा प्रस्तुत रूप में पाठक के

सम्मुख लाया जाता है । आश्रय की चेष्टाएं तथा व्यापार भी कल्पना द्वारा ही सृजन किये जाते हैं, जो कि आश्रय को एक विशिष्ट रूप देते हैं अथवा उसका रूप विधान करते हैं । इस प्रकार अनुभव भी कल्पना के अन्तर्गत आते हैं । परन्तु भावों को बताने वाले यह चेष्टा अथवा व्यापार सीमित होते हैं । इनमें रूढ़ि-बन्धन के कारण नवीनता नहीं लाई जा सकती । परन्तु आश्रय के वचनों की, जिनकी कल्पना कवि करता है, कोई सीमा नहीं ।

वचनों के क्षेत्र में कल्पना को पूर्ण स्वच्छन्दता है, क्योंकि कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु शरीर द्वारा वह क्रियात्मक रूप में प्रस्तुत करना कठिन होता है, इस कारण शरीर की चेष्टाएं सीमित होती हैं । वाणी का व्यापार असीमित होता है, अनेकरूपात्मक होता है । वाणी का प्रसार तो लोक-अतिक्रमण भी कर सकता है । कारण यह है कि मन की गति का आवेग अबाध होता है । मन में सब भावों की बाढ़ आती है तो पता नहीं वाणी क्या-क्या कह जाती है । प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए वाणी द्वारा प्राण त्याग देता है, उसके पाँव रखने के लिए अपनी पलकें बिछा देता है, सारे संसार को त्याग देने के लिए तत्पर हो जाता है । इसी प्रकार क्रोध में आकर मनुष्य न जाने क्या-क्या कह जाता है । वह वाणी द्वारा अपने शत्रु की चटनी बना देता है, कच्चा भी चबा जाता है और जान से भी मार डालता है । जब उत्साह का आवेग मन में आता है वह सारे संसार का चक्कर एक क्षण में लगा लेता है, समुद्र को पार कर जाता है । इस प्रकार के लोकोत्तर विधान में ऐसा भी होता है कि वस्तु-व्यंजना का टेढ़ा मार्ग होने के कारण काव्य में केवल वैचित्र्य-मात्र ही शेष रह जाता है और मार्मिकता लुप्त हो जाती है । विहारी के दोहे इसी प्रकार हैं, वे कल्पना का तमाशा बनकर रह गये हैं । नायिका में विरह-ताप से शरीर के स्पर्श करने से पहले ही गुलाब के इत्र की शीशी शुष्क हो जाती है । परदेश में बैठा नायक किसी यात्री से एक गांव में लूओं का चलना सुनकर अनुमान कर लेता है कि उसकी प्रेमिका (नायिका) जीवित है । इस प्रकार की रचनाओं में विचित्रता तो है, परन्तु मार्मिकता नहीं दिखाई पड़ती । आचार्य शुक्ल जी इस प्रकार के काव्य-विधान से सहमत नहीं हैं ।

काव्य में विभावपक्ष के ही अन्तर्गत उन समस्त प्रस्तुत वस्तुओं तथा

व्यापारों को भी ग्रहण किया जाता है जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, क्रान्ति, ऐश्वर्य, विभूति जैसी भावनाएं उत्पन्न करते हैं। ऐसा भी होता है कि कवि सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति आदि की एक विचित्र नूतन सृष्टि बनाने के लिए सब ओर से उपकरण ग्रहण करके एक लोकोत्तर योजना करते हैं। कल्पना को लोकोत्तर उत्कर्ष के रूप व्यापार सृजन करने में कविता उस की सहायता करती है। कुछ विद्वान तो कविता और कल्पना का उद्देश्य ही लोकोत्तर योजना मानते हैं। ये लोग काव्य की तुलना स्वप्न से करते हैं। ये विद्वान काव्य को भी स्वप्न की भांति अन्तस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की अन्तर्व्यंजना करते हैं। हमें जो कुछ भी संसार में दिखाई पड़ता है उससे हमारी इच्छाओं की तृप्ति नहीं होती। वह अन्तस्संज्ञा में दबी पड़ी रहती हैं। ये अतृप्ति ही अपनी तृप्ति के हेतु कविता के रूप में आती हैं और वह इस प्रकार श्रोताओं की इच्छाओं को भी तृप्त करती हैं। परन्तु वास्तव में कविता तथा स्वप्न एक वस्तु नहीं, यदि इन दोनों में कोई साम्य है तो यही कि स्वप्न की भांति काव्य भी हमारी बाह्य इन्द्रियों के सामने नहीं रहता। स्वप्न तथा कल्पना की वस्तु में यह भेद भी होता है कि स्वप्न की वस्तु की प्रतीति प्रत्यक्ष के समान होती है, कल्पना की नहीं। जहां तक अतृप्त वासना का प्रश्न है तो काव्य में शोक प्रसंग भी आते हैं। शोक की तृप्ति कोई भी नहीं चाहता।

पश्चिमी आचार्य फायड ने काव्य की प्रेरणा काम वासना के द्वारा मानी है। फ्रायड कहते हैं कि हमारी वासनाएँ सेन्सर (Censor) अर्थात् औचित्य दर्शक के कारण उपचेतना में दब जाती हैं, परन्तु अपने निकास का, प्रवाह का मार्ग खोजती रहती हैं। वह निकास के मार्ग स्वप्न, दैनिक भूलें तथा हँसी-मज़ाक हैं। कला और काव्य भी ऐसे ही विकास मार्ग हैं, परन्तु औरों से अधिक परिष्कृत तथा परिमर्जित। यह इस बात का फल है कि काव्य को ललित कलाओं के अन्तर्गत माना गया। परन्तु भारतीय विचारधारा के अनुसार काव्य ललित कलाओं के अन्तर्गत नहीं क्योंकि वह केवल सौन्दर्य उत्पन्न करती है हृदय स्पर्श नहीं करती।

काव्य में प्रस्तुत की भांति अप्रस्तुत भी एक आवश्यक अंग है। क्योंकि सामंजस्य की काव्य में बड़ी आवश्यकता होती है। अप्रस्तुत का विधान कल्पना ही करती है और पश्चिम तो कल्पना का अर्थ ही अप्रस्तुत-विधायिनी

ही माना जाता है। अप्रस्तुत की योजना भी प्रस्तुत की भांति भाव संकेत द्वारा ही होती है परन्तु वह भाव में वृद्धि करने वाली ही होने पर काव्य प्रयोजन की होगी अन्यथा नहीं। बाह्य विधान. ही नहीं अन्तःविधान भी अत्यन्त आवश्यक है। आकार, प्रकार, रंग, रूप का शास्त्रानुसार विधान करना ही पर्याप्त नहीं हैं जैसे नायिका की कटि की सूक्ष्मता बताने के लिये सिंहनी की कटि सामने रख दी। यह तो केवल बाह्य सौन्दर्य ही हुआ। वास्तविक और अन्तः सौंदर्य की प्रेरणा तो उस वर्णन में नहीं जो कि होनी चाहिए। शुक्ल जी इस आशंका के सम्बन्ध में लिखते हैं, "यह देख कर सन्तोष होता है कि हिन्दी की वर्तमान कविताओं में प्रभाव-साम्य पर ही विशेष दृष्टि रहती है।"

कल्पना तो कविता की भाषा शैली को भी अधिक व्यंजक, मार्मिक तथा चमत्कारपूर्ण बनाने में सहायता करती है। इस कार्य में लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्द शक्तियां कल्पना की सहायता करती हैं। कवि लक्षण का तो व्यवहार बड़े स्वतन्त्र होकर करते हैं। ब्रज भाषा के कवियों में इस प्रकार के कवि घनानन्द प्रमुख हैं। उनका भाषा पर इतना अधिक नियन्त्रण है कि वह भावानुसार उसको मोड़ देते हैं।

उदाहरण के लिए—

१. "उघरो जग छाय रहे घनानन्द चातक ज्यों तकिए अब तौं।"

मेघ छाना और उघड़ना तो सामान्य प्रयोग में आता है परन्तु यहाँ कवि ने मेघ के छाये रहने और श्रीकृष्ण के आंखों में छाए रहने के साथ ही साथ जग का उघड़ना (खुलना, तिरोहित होना) भी कह दिया जिसका लक्षणा द्वारा अर्थ निकाला गया कि जगत् के फैले प्रपंच का आंखों के सामने से हट जाना, चारों ओर शून्य दिखाई पड़ना।

२. "भलनि चिन्हारि दोऊ है न हो हमारे ताते बिसरनि रावरी हमें लै बिसरति है।"

हम कभी-कभी आत्मविस्मृत हो जाते हैं; उससे जान पड़ता है कि आप हमें लिये-दिये भूलते हैं अर्थात् उधर आप हमें भूलते हैं, इधर हमारी सत्ता ही तिरोहित हो जाती है।

इस प्रकार के लक्षणा शक्ति के प्रभावशील प्रयोग मिलते हैं। वास्तव में यह कल्पना को अधिक प्रभावशील बनाने में सहायक होती है। इस प्रकार भाषा शैली में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है

वर्तमान समय में शुक्ल जी के विचार से हिन्दी काव्य धारा की भी प्रवृत्ति इसी लक्षण और वक्रता की ओर है। काव्य के विकास और अधिक प्रभावशील होने में सहायक होगी। भाषा में भावों को व्यक्त करने की शक्ति में प्रबलता आ जाती है। हिन्दी के कवियों में पन्त जी की रचनाएं इसका सजीव उदाहरण हैं। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित भारतीय छायावादी काल की रचनाएं लगभग इसी प्रकार की हैं। महादेवी वर्मा का भी ऐसे कवियों में अपूर्व स्थान है। उदाहरण के लिए पन्त की कुछ रचना लेते हैं—

१. **धूलि की ढेरी में अनजान दिये हैं मेरे मधुमय गान।**

धूलि की ढेरी से तात्पर्य इस नश्वर संसार से है। मधुमय गान से अर्थ जिनका मधुमय गान किया जाता है अर्थात् मधुर और सुन्दर वस्तुएं।

२. **तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान**
प्रभा के पलक मार, उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर

यहाँ पर प्रभा के पलक मार का अर्थ है पल-पल पर चमक कर। गूढ़ गर्जन से मन्तव्य है हृदय की छिपी हुई धड़कन।

इस प्रकार की रचनाओं का आधार या तो किसी-न-किसी प्रकार की साम्य भावना है अथवा किसी वस्तु का उपलक्षण या प्रतीक के रूप में ग्रहण। यह दोनों बातें कल्पना के द्वारा ही आती हैं। इन प्रतीकों अथवा उपलक्षणों का चुनाव किया जाता है जो कि मूर्तिमता, मार्मिकता या आतिशय के आधार पर होती है जैसे कि शोक या विषाद का प्रतीक आंसू, हर्ष और आनन्द के स्थान पर हास, यौवनकाल तथा संयोग काल के लिए मधुमास शुभ्र वस्तु का प्रतीक रजत या हंस द्वारा किया जाता है। यह समस्त रूप व्यापार कल्पना का ही है।

कवि तथा श्रोता दोनों को ही काव्य निहित भावना की पूर्ण रूप से अनुभूति हो जाय इसलिए कल्पना का प्रयोग अत्यन्त ही आवश्यक है। जब श्रोता के कानों में काव्य की कोई उक्ति सुनाई देती है तो काव्य में वर्णित वस्तु के साथ ही साथ वक्ता या बोधव्य पात्र की एक मूर्त्त भावना खड़ी रहती है। और इसी स्थिति में श्रोता को पूर्ण तन्मयता की अवस्था प्राप्त होती है। श्रोता काव्य में वर्णित भावों के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और आनन्द प्राप्ति करता है। इस प्रकार कल्पना का काव्य में एक विशिष्ट महत्त्व शुक्ल जी स्वीकार करते हैं, परन्तु भाव पक्ष की प्रधानता अनिवार्य है।

कठिन शब्दों के अर्थ तथा महत्वपूर्ण स्थलों का भावार्थ

भाव या मनोविकार

शब्दार्थ :—अनुभूति=अनुभव। द्वन्द्व=सुख-दुःख के भाव। उच्चप्राणी =मानव जीवन जो सभी प्राणियों से उत्कृष्ट है। सामान्य=साधारण। पर्याप्त=काफी। उन्मुख=उद्यत, उत्सुक, उत्कंठित।

शब्दार्थ :—नाना विषय=अलग-अलग विषय। बोध=ज्ञान। विधान= अनुभव। अनेकरूपता=अनेक प्रकार। संघटित=सम्मिलित या घटित होना। मूल अनुभूति=पहला अनुभव, साधारण ज्ञान, मानसिक और शारीरिक। वृत्तियाँ=मन तथा शरीर की क्रियाएँ या शक्तियाँ। संश्लिष्ट होकर= सम्मिलित होकर या मिलकर।

असंकलक्ष्यम=समझ में न आना। अनिष्ट=हानि, नुकसान। निश्चयात्मक बुद्धि=निश्चय कराने वाली बुद्धि। विचलित=डगमगाना या चंचल।

रासायनिक मिश्रण=कई प्रकार के द्रव्यों का घोल। संयोजक द्रव्य=मिले हुए पदार्थ, जिनके मेल से वह घोल तैयार होता है। विषय बोध=विषय का ज्ञान। चेतन वृत्ति=ज्ञान कराने वाली शक्ति। क्लेशकारिणी=दुःख देने वाली। अन्तःकरण=मन, आत्मा, हृदय। भावी आपदा=भविष्य में आने वाला संकट या आपत्ति। प्रयत्नवान—प्रयास करने वाला। वशीभूत=वश में।

बंधी हुई=निश्चित, नियत। प्रवृत्ति=प्रकृति, स्वभाव। स्फुरण=प्रकट होना, उत्पत्ति।

विशुद्ध सुख=केवल सुख। अनिवार्य=आवश्यक। लक्षण=चिह्न।

निर्दिष्ट=विशेष, निश्चित। व्यजंना=अभिव्यक्ति, प्रकट। कम्प= कांपना। शीत की संवेदना=सर्दी के कारण। प्रेम के वेग=रति भाव की तीव्रता या अधिकता के कारण। इच्छा का स्वरूप=इच्छा का प्रकार। सत्ता =महत्त्व, स्थिति। पूर्णतया=पूरी तरह। व्यक्त=प्रकट। साहित्य मीमांसक=साहित्य की मीमांसा करने वाला, आलोचक। अनुभव=रोमांच, स्वर भंग, कटाक्ष इत्यादि क्रियायें जिनसे रस का ज्ञान प्राप्त होता है। आश्रय= जिसमें रस उत्पन्न होता है।

परिष्कृत=शुद्ध। उत्साहपूर्ण=उत्साह या जोश से भरी। तत्परता=संलग्नता, उद्यतता। रण-क्षेत्र =युद्ध-क्षेत्र या लड़ाई का मैदान। परिमित=सीमित। प्रसार=विस्तार, फैलाव।

प्रवर्त्तक=चलाने वाला। संघटन=मेल, सम्मिलन। लोक-रक्षा=संसार की रक्षा। लोक-रंजन=संसार का आनन्द या लाभ। सदुपयोग=अच्छा प्रयोग। दुरुपयोग=बुरा प्रयोग। सिद्धि=सफलता। संस्था=किसी विशेष सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला दल। संकुचित=सीमित, संकीर्ण। परिमित=सीमित, थोड़े।

अनुग्रह=कृपा। शासकवर्ग=राजा लोग। स्वार्थ-सिद्धि=अपनी सफलता। स्वरूप-वैचित्र्य=भिन्न-भिन्न रूप। प्रभाव की प्रतिष्ठा=प्रभाव का बनाये रखना। द्वेष=वैर।

गुनाह=पाप। भस्म=भभूति। रुद्राक्ष=माला का मनका, जो शैवों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण होता है। अपराध=दोष। प्रवृत्ति और निवृत्ति=कार्य करना और कार्य न करना। मूल या मर्म=आधार या मानसिक स्वरूप। रसात्मक=रसपूर्ण। नरसत्ता=मानवता। रागात्मिका वृत्ति=हार्दिक प्रेम की शक्ति। प्रकृति=स्वभाविक - सामजंस्य=समन्वय, मेल।

"अनुभूति के द्वन्द्व……आरम्भ होता है।"

मानव जीवन का आरम्भ सुख-दुःख रूपी दो परस्पर विरोधी भावों के समन्वित रूप से होता है। इनका सुन्दर समन्वय करना ही वास्तविक जीवन है।

"मनोविकार या भावों……द्रव्यों से भिन्न होते हैं।"

जो भाव या मनोविकार मिश्रित परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मूल भावों से उसी प्रकार भिन्न होते हैं जैसे अनेक द्रव्यों से मिला हुआ घोल (Mixture) मूल द्रव्यों से भिन्न होता है। उनमें मूल अनुभूति का ज्ञान नहीं हो पाता।

"समस्त मानव-जीवन ……मनोविकार ही होते हैं।"

मानव जीवन के चलाने वाले वास्तव में भाव ही होते हैं। साधारणतः देखने में आता है कि मन में जिस प्रकार के भाव का उदय होता है। मनुष्य वैसा ही कार्य करता है।

"भक्ति धर्म रसात्मक……भीतर दिखाई पड़ता है।"

धर्म की रसमयी अनुभूति के लिए मन को भक्ति भाव से परिपूर्ण करना आवश्यक है। भक्ति में जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह धर्म की सरस अनुभूति का ही रूप है क्योंकि व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण दोनों का एकसाथ विकास भगवद्भक्ति में ही होता है।

उत्साह

शब्दार्थ :—वर्ग=कोटि, श्रेणी। प्रस्तुत=वर्तमान, उपस्थित। प्रयत्नवान=प्रयत्न करना, प्रयास करना। स्थिति=अवस्था। कर्म सुख=कार्य-करने से सुख-प्राप्ति। प्रवृत्त=लगे रहना। साहसपूर्ण आनन्द की उमंग=साहस से युक्त आनन्द या सुख प्राप्ति की इच्छा। कर्म-सौंदर्य=वे जो कार्य करने में ही जीवन की सफलता मानते हैं।

शब्दार्थ :—अपेक्षित=जरूरी, अनिवार्य। उत्कंठापूर्ण=उत्सुकता के साथ। युद्ध-वीर=सबसे अधिक साहसी बलवान जो कर्म करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। सच्चे उत्साही ये युद्ध-वीर ही होते हैं क्योंकि इसमें मृत्यु-संकट अधिक निकट होता है। आघात=चोट। चरम उत्कर्ष=अन्तिम सीमा। स्फुरित=प्रकट।

घोर प्रहार=अधिक चोट। साहस=बल। धीरता=धैर्य, अटल दृढ़ता। निश्चेष्ट साहस=बिना कुछ कार्य किये बल का प्रदर्शन करना। धृति=धैर्य, सन्तोष। संचारण=आना-जाना, चलना या विद्यमान रहना।

शब्दार्थ :—अर्थ-त्याग=मन से विलग होना या उसका त्याग करना। क्षमता=बल, योग्यता। अन्तर्हित=छिपी। पूर्ण तत्परता=पूरी लगन।

शब्दार्थ :—विकट=कठिन, दुर्गम। अनुसंधान=खोज। तुषार-मण्डित=बर्फ से ढके। अभ्रभेदी=आकाश को छूने वाले। अगम्य=जहाँ कठिनाई से पहुँचा जाये। सफर=यात्रा। क्रूर बर्बर=जालिम, दुष्ट। अज्ञात=जिसका ज्ञान न हो। पराक्रम=बल, शक्ति, साहस।

मनसिक क्लेश=मन का दुःख। उपहास=मजाक। प्रत्यक्ष हानि—जो नुकसान सामने दीख रहा हो।

प्रथाओं=रीति-रिवाजों। अनुसरण=पीछे-पीछे चलना। मान ग्लानि=आदर को धक्का लगना। निन्दा-स्तुति=चुगली और प्रशंसा या अपमान और बड़ाई। बेहया=बेशर्म।

उल्लंघन=लांघना, तोड़ना। विरुद=यश। लेश-मात्र=जरा भी।

पक्ष=दल । सुख्याति=यश, प्रशंसा । ओछे लोग=तुच्छ व्यक्ति, संकुचित मन वाले । उपयोगिता=लाभ ।

उच्चाशय=ऊँचा उद्देश्य, उच्च लक्ष्य । छिछोरे=तुच्छ व्यक्ति, हल्के आदमी । दास्तान=कथा, कहानी । लम्पट=धूर्त, धोखेबाज । पापाचार=पापी कर्म । काम-कथा=ऐन्द्रिय सुख देने वाली कहानी, ऐसी कथा जिसका सम्बन्ध इन्द्रिय सुख हो । वृत्तान्त=कथा, हाल । तन्मयता=संलग्नता से मन लगाकर । श्रवण=सुनना । वाधा=अड़चन, विघ्न ।

कर्त्तव्य-कर्म=करने योग्य कार्य । अकर्त्तव्य=न करने योग्य । श्लाघ्य=प्रशंसा के योग्य । आत्म-रक्षा=अपनी रक्षा पर । पर रक्षा=दूसरों की रक्षा। निमित्त=के लिए । परपीड़ित=दूसरों को दुःख देना । कर्म मात्र के सम्पादन में=केवल कार्य के पूरा करने से । सुभीते=आसानी, सुविधा । लगाव=सम्वन्ध । आगमन=आना । लक्षण=अंग ।

शब्दार्थ :—उद्योग=प्रयत्न । अभिव्यक्ति=प्रकट ।

दृष्टान्त—उदाहरण । वाग्वीर=वाचाल वड़ी-बड़ी वातें बनाने वाला। पारिवारिक प्रपंच=घरेलू मामले या झगड़े । तादाद=संख्या ।

आदि=प्रारम्भ। कर्म-शृंखला=कर्मों की लड़ी का कर्म-चक्र।

विजेतव्य=जिस पर विजय पानी है । आलम्वन=आधार । अभिप्राय=आशय । कर्म-प्रेरक=काम करने की प्रेरणा देने वाला । स्थित=बैठा। निर्धारण=निर्णय, फैसला । मिश्रित भाव=मिला-जुला भाव । विजय विधायक=विजय का विधान करने वाला या सफलता दिलाने वाला । कीर्तिलोभ=यश की इच्छा । दुस्साध्य=जो साध्य न हो, जिसे किया न जा सके । कर्म-भावना=काम करने की इच्छा । अनुष्ठान=काम शुरू करना ।

कर्मभावना-प्रसूत आनन्द=कार्य करने से आनन्द की प्राप्ति । सिमटा=कम, सीमित । झोंक=तेजी से, तीव्रता से । शौर्य=शक्ति, वल, वीरता।

साधक-कर्म=ऐसे कार्य जिनके लिए परिश्रम करना पड़ता है । अवलंबित=आवृत, आधारित, । शिथिलता=ढीलापन । एकरस=समान । फलासक्त=फल प्राप्ति का लोभी । खिन्न=दुःखी । कर्मासक्त=कर्त्तव्य में रुचि रखने वाला । प्रच्छन्न=लुप्त, छिपा हुआ ।

संयोग—मेल ।

…ल्लता=खुशी, प्रसन्नता। अभावमय=व्यर्थ। आनन्दशून्य=जिसमें …द न हो। निर्जीव=बेजान। कर्म-रुचि-शून्य=एक कार्य करना जिसमें …न लगे। उतावली=जल्दी। आकुलता=व्याकुलता। चूक=भूल। …=चोटी। विचरते=चलते हुए। सजीवता=जीवन। स्वर्णराशि= …का ढेर। प्रयत्न-काल=प्रयास या काम करने के समय। दुर्बल= …, शक्तिहीन।

…र्म का लाघव=काम न करना।

…स्त=फंसा हुआ। उदासीन=मुंह फेर लेना। अनुष्ठान=पाठ-पूजा। …=छुटकारा। कर्म का लक्ष्य=कर्म का अन्तिम ध्येय। कर्म की …ना=काम करने की तीव्रता।

…संतोष=शान्ति। उन्मेष=जोश, आवेग। आत्मग्लानि=अपने ही (बुरे) पर किया गया खेद।

…कर्मण्य=काम कराने वाला। दिव्य=व्यापक। दमन=दबाना। …=शान्ति, हटाना। तुष्टि=संतोष। लोकोपकार=जगत् का …र करना।

…स्फूर्ति=उत्साह, फुर्ती। अग्रसर=आगे बढ़ना। फलोन्मुख=फल की …झुका हुआ।

…क्रुद्ध=क्रोधित, नाराज। निर्दिष्ट=निश्चित। व्याघात=चोट, प्रहार, …ान।

पृष्ठ ६. **"साहसपूर्ण आनन्द……उत्साह है।"**

मनुष्य के हृदय में साहस के साथ आनन्द प्राप्ति की जो इच्छा रहती है, …को उत्साह के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

"कर्म सौन्दर्य के उपासक…… ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।"

…जो मनुष्य कर्मों के करने में ही संतुष्ट रहते हैं, वे ही वास्तव में सच्चे …ाही होते हैं, क्योंकि इसमें साहस का योग होता है। दूसरे इसमें फल …की इच्छा पर इतना बल नहीं दिया जाता। उनका उद्देश्य फल-प्राप्ति …होता—वरन् वे तो अपने कार्य करने में ही जीवन की सफलता …ते हैं।

पृष्ठ ७. **"आनन्द प्रयत्न संचरण होता है।"**

उत्साही को प्रयत्नवान रहते हुए इच्छित आनन्द की प्राप्ति करनी

चाहिये। बिना साहस या प्रसन्नता रहित कार्य को उमंग नहीं कहा जा सकता। केवल संकट को सहन करना और प्रयत्न न करना उत्साह नहीं कहलाता है। उत्साह के अन्तर्गत धैर्य और हिम्मत का सदैव संसार होता रहता है।

"दानवीरता तभी कही जायगी……कठिनता दिखाई देगी।"

दान वही कहा जायगा, जिससे दानी को अपने जीवन व्यतीत करने में कुछ कठिनता का अनुभव हो। दानी इस कठिनता को स्पष्ट रूप से देखते हुए भी प्रसन्नतापूर्वक दान करता है—दुःखी नहीं होता और न ही मन मार कर दान करता है। यही वास्तव में दानवीरता है।

पृष्ठ १०. प्रयत्न और कर्म संकल्प……नित्य लक्षण हैं।"

कार्य में लगे रहना और प्रयत्नशील रहना उत्साह के आवश्यक अंग हैं जैसे सुदामा के आगमन को सुनकर श्रीकृष्ण आनन्दित तो हुए ही, इसके साथ ही वह उनका स्वागत करने के लिए भागते आये। उसके स्वागत की पूरी व्यवस्था की अर्थात् कार्य में लीन रहे—केवल आनन्दित होकर बैठ ही नहीं गये।

श्रद्धा-भक्ति

शब्दार्थ—जन-साधारण=सामान्य व्यक्ति। पोषित=पाली हुई। आनन्द-पद्धति=आनन्द या सुख की नीति। व्याघात=चोट, धक्का। वांछित=चाहना, इच्छित। विश्व कामना=संसार की इच्छा।

शब्दार्थ—सम्मान=आदर। विस्तृत=फैला हुआ। एकान्त=संकुचित, सीमित। घनत्व=समीपता, गहनता। क्षमता=सामर्थ्य, बल, योग्यता। कर्त्ता=करने वाला। मनोहरता=सुन्दरता, सौन्दर्य। सत्कर्म=अच्छा कार्य। सद्वृत्तियां=अच्छी आदतें, अच्छे विचार। ज्योतिष्मान्=चमकते हुए। शक्ति-केन्द्र=बल का स्थान। उदय=उत्पन्न, जागना। मेघ खण्डों=बादलों के टुकड़े। अग्रसर=आगे बढ़ना। मंगल=कल्याण।

शब्दार्थ—अन्तकरण=हृदय, मन। आदर्श रूप का संघटन=आदर्श रूप की कल्पना। कर्म-तन्तु=कर्म की तार। उपादान=ज्ञान, बोध, अभिप्राय। चितन=ध्यान।

मध्यस्थ=बीच में आने वाला व्यक्ति। अपेक्षित=आवश्यक। आनन्दान्तर्गत भाव=आनन्द या प्रसन्न करने वाला भाव। सहृद-भाव=

...नुभूति का भाव, प्रेम भाव।

शब्दार्थ—अनिर्दिष्ट=जो देखा न जाय तो निश्चित न हो। अज्ञात=...का पता न हो, न जाना हुआ। निर्दिष्ट और ज्ञात=निश्चित और जाना ...। जीवन-क्रम=क्रमशः जीवन। सतत साक्षात्कार=पूरी तरह देखना। ...लाषी=जानने की इच्छा वाला। निराला=अनोखा।

शब्दार्थ - मोहित=आकर्षित। परिणित=परिवर्तित, बदलना। ...गत रुचि=अपनी निजी पन्सद। बखान=बड़ाई, प्रशंसा। रीझने ...=आकर्षित होने वाले। कद्रदान=गुणों के पहचानने वाले, पहचान ...। सूत्रपात=आरम्भ, श्रीगणेश। श्रद्धा-भाजन=श्रद्धेय, जिसमें ...ा होती है। श्रद्धावान=श्रद्धालु।

व्यष्टि-रूप=एकान्त, अकेला। प्रतिकार=बदला। कृतज्ञता=आभार, ...रे का उपकार स्वीकार करना। जाग्रत=सचेत।

अनन्य अधिकार=पूरा हक। इजारा=एकाधिकार (Monopoly)। समष्टि-रूप=सामूहिक रूप से। सामान्य आदर्शों की स्थापना=ऐसे ...यम या सिद्धान्त जो कि सर्वसाधारण के लिए हों। समुदाय=दल, संघ। ...य-बुद्धि=श्रद्धा भाव।

मूल-तत्व=आवश्यक अंग, आधार। स्वार्थ-बद्ध दृष्टि=संकुचित दृष्टि ...ला, स्वार्थी। अभिमान=घमण्ड। लत=आदत। समाई=क्षमता, ...मर्थ्य। मलीन=गन्दा, तुच्छ। कृति=कार्य, रचना। यथार्थ=उचित ...स्तविक।

प्रतिभा संबन्धिनी=बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली। उद्भाविका=उत्पन्न ...रने वाली। ग्रहण करना=समझना। धारणा-शक्ति=स्मरण शक्ति। संचित=...कत्र, इकट्ठा। मार्मिक=गूढ़, गहन। निपुणता=दक्षता, योग्यता। त्रुटि=...मी। क्षम्य=क्षमा के योग्य। अनाड़ीपन=मूर्ख, अज्ञान। रुचि-संस्कार=...पसन्द और प्रकृति। मर्मज्ञता=ज्ञान। व्यवस्था=प्रबन्ध। ईर्ष्या=जलन। ...हंकार=घमण्ड। दोषारोपण=दोष लगाना। प्रतिष्ठित=वर्तमान, ...मौजूद। स्थिति=महत्ता।

साधन-सम्पन्नता=सभी प्रकार की सुविधाएं होना। अनुपयोग=प्रयोग ...न करना। सदुपयोग=अच्छे काम में प्रयोग करना। कुरुचिपूर्ण=बुरी ...पसन्द। कृत्य=कृति, रचना। साध्य की पूर्णता=कार्य की सम्पन्नता।

मनोहारिणी=मन को हरने वाली, सुन्दर, आकर्षित करने वाली। सटाए=मिलाकर। व्यय=खर्च। अपव्ययं=फिजूलखर्ची। कलावन्त=कलाकार। संगीत नाद=संगीत की ध्वनि। स्वरग्राम=सरगम। कवायद=व्यायाम, कसरत। स्तब्ध=चुप, शान्त। खर-श्वान=गधा और कुत्ता। अभ्यास-गम्य=अभ्यास के बार-बार करने से आने वाले। श्रम-साध्य=परिश्रम करने से प्राप्त होने वाले। हद=सीमा। मूर्तिमान=प्रत्यक्ष ह… जलोदर=पेट का बढ़ जाना, जलंदर। पिलपाव=ऐसा रोग जिससे … पैर भारी हो जाता है।

निरपराध=निर्दोष। सम्भावना=आशा, उम्मीद। प्रतिभा=प्राकृ… रूप से विद्यमन ज्ञान, बुद्धि। चिन्तक=चिन्तन करने वाला, विचार क… वाला। वक्ता=बोलने वाला, अच्छा भाषण करने वाला। अन्वेषक=अ… सन्धान करने वाला, खोजने वाला। कला-कुशल=अपने कार्य में दक्ष। तत्त्वान्वेषक=तत्त्व की खोज करने वाला, सत्य को ढूंढने वाला।

लम्पट=दुष्ट। सुहावनी=सुन्दर, आनन्द देने वाली। विलासप्रिय… जो आराम देने वाली वस्तुओं से प्रेम करता है। मद्यप=शराबी। सनकी=… बेवकूफ, पागल। अनर्थकारी=नुकसान देने वाली। अपराधी=दोषी। ईर्ष्यान्ध=जलन के कारण अन्धा, जलन से दुखी। अनिष्ट=बुराई, अहित। व्याज=कारण, हेतु, बहाना।

अपव्ययी=अधिक खर्च करने वाला। उपद्रव—हलचल, शोर। उत्तरदाता=जिम्मेदार या कारण। सहवर्तियों=मित्रों, साथ रहने वाले सहकारियों, साथियों। सटीक=उचित, पूर्ण। अविवेक=अज्ञान। अभियोग=मुकदमा, जुर्म।

बेधड़क=निस्सन्देह। वितरण=बांटना, विभक्त करना। वांछनीय=इच्छित। परकीय=अन्य किसी का। स्वकीय=निजी, अपना। सुगम=सरल, सीधे। ढाई कोस नौ दिन में=काम कम, परिश्रम अधिक। सम्पादित=इकट्ठी करना, आकर्षित करना। स्वार्थ-साधन=अपना काम निकालना। तृप्त=शान्त। सावधान=सचेत, होशयार। सन्नद्ध=तैयार, तत्पर। देश-हितैषिता=देश का हित, देश की भलाई। देशोद्धार=देश की भलाई। पुण्य क्षेत्र=पुण्य भूमि। उग्रता=तेजी, तीव्रता। कृतकार्य=करने योग्य कर्म।

सार्वजनिक उद्योग=सर्वसामान्य के हित के लिए किये जाने वाले प्रयत्न। निराहार=बिना कुछ खाये पिये। धूर्त=दुष्ट। चिन्तन=ध्यान, स्मरण। भोग विलास=मन प्रसन्न करने के साधन। निमित्त=कारण। पर-श्रद्धा-भिलाषी=दूसरों की श्रद्धा की इच्छा करने वाला। दुर्व्यसन=बुरी आदत। गंजेड़ी=गांजा पीने वाला। प्रयोजन=साधन। अभीष्ट=लक्ष्य, उद्देश्य। वियोगी=बिछुड़ना। साधुवाद=भलाई बढ़ाई। गुप्त=छिपे। विघ्न=बाधा व अड़चन। व्यवस्था=प्रबन्ध। कलई करके=सजाकर ऊपर से सुन्दर बनाना। भीरुता=कायरता, डर। मात करें=हरायें, पराजित करें।

सामर्थ्य=शक्ति, बल। मंगल-साधन=कल्याण, हित। खुशामद=झूठी प्रशंसा। याचकता=मांगना। लेश-मात्र=जरा भी। सात्विक=सच्चा, भला आचरण, शीलता। क्षमता=योग्यता। रुष्ट=नाराज। स्वत्व=अधिकार। हरदम=सदैव। प्रदर्शित=दिखाना। द्वेष-वश=द्वेष के कारण। असन्तोष=अशान्ति।

समाज की स्थिति=समाज का महत्त्व, समाज का विद्यमान होना। रंजन=मनोविनोद, खुशी। विधान=व्यवस्था। असामर्थ्य=अयोग्यता। निराकरण=निवारण, निवृत्ति, छुटकारा।

पात्रापात्र=किसी अधिकार के योग्य और अयोग्य। रत=संलग्न, लगे हुए। दुरुस्त=उपयुक्त, उचित। अन्यायी=अन्याय करने वाले, अत्याचारी। अतिसार या संग्रहणी वाले=पेचिश के रोगी।

पूज्य बुद्धि=श्रद्धा का भाव। वृद्धि=उन्नति, बढ़ाव। सामीप्य-लाभ=समीप रहने की इच्छा। सत्ता=शक्ति, मौजूद होना। प्रादुर्भाव=आगमन, उत्पत्ति। श्रवण=सुनना। अर्पित=देना। याचना=मांगना। योग=साथ। उपहार=भेंट। विभक्त=बाँटना, विलग, पृथक। आत्मनिवेदन=अपने मन की बात को बताना, अपने को ईश्वर के हाथ सौंप देना।

उपार्जित=परिश्रम से कमाया हुआ। सुभीता=आसान, सरल, सुविधा। वाग्मिता=वाणी का बल। अनन्य भक्ति=पूरी भक्ति।

दण्डवत=प्रणाम। लोक-हितकारिणी=संसार का भला करने वाली। आकर्षण-विधान=आकृष्ट होने का नियम। अणु=छोटे-छोटे कण (Atom)। विशद=व्यापक, विस्तृत।

सान्निध्य=समीपता। संकोच=संकीर्ण, घटना। प्रतिबिम्ब=परछाइं। क्षुद्रता=तुच्छता। परिज्ञान, परिचय। अरुचिकर=अच्छा न लगना। सापेक्षिता=मुकाबला। महत्त्वादर्श=महत् आदर्श, महान् उद्देश्य। हमीहम=घमण्डी। दैन्य=दीनता। लघुत्व=तुच्छता। साक्षात्कार—सामीप्य, परिचय। क्रिया-कलाप=कार्य। सुगम—सरल।

व्यक्ति-सम्बन्ध-हीन सिद्धान्त=ऐसा सिद्धान्त जिसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध न हो। प्रवर्तक=चलाने वाला। अव्यक्त=अस्पष्ट, गुप्त। मनोरंजनकारी=मन बहलाने वाले। विभूतियां=गुण। अनन्त=अपार, जिसका अंत न हो। आख्यानों=कहानियों। सात्विकशील=सुन्दर चरित्र, स्वच्छ आचरण। शून्य सिद्धांत वाक्य=खोखले नियम, केवल कोरे सिद्धान्त। बेहूदा=बेवकूफ। प्रत्यक्ष=सम्मुख। प्रवृत्ति=कार्य में लगना। निवृत्ति=कार्य से भागना। संकल्प-विकल्प=सोच विचार करना। पथिक=मुसाफिर। सत्पथ=सच्चा रास्ता। सत्त्वोन्मुख=सात्विक वृत्ति वाले।

अभिप्राय=आशय। बाह्य=बाहरी आभ्यंतर=आन्तरिक। सिद्धि=प्राप्ति। आराध्य=पूज्य देव। इष्ट=पूज्य देव। दुराचारी=बुरे आचरण वाले। सार्थक=सफल। प्रायश्चित=पछतावा। होम=हवन। मर्यादा=सीमा, हद।

आशुफल=उसी समय फल की प्राप्ति। समक्ष=सम्मुख, सामने। व्यक्तिगत=अपनी। आत्मोन्नति=आत्मा का उत्थान। श्रेष्ठ=भला। कृतघ्नता=किसी के उपकार को न मानना।

निष्ठुरता=कठोरता। समष्टि-स्थिति=सार्वजनिक रक्षा। सामञ्जस्य=समन्वय। जीवो जीवस्य जीवनम्=एक मनुष्य का जीवन दूसरे मनुष्य के जीवन पर आघृत है। निरर्थक=व्यर्थ। खंडित=तोड़ना। देव तुल्य=देव के बराबर। उदात्त=उत्कृष्ट, ऊँची। मर्कट=बन्दर। मत्स्य=मछली। ह्रास=हानि! आभास=पता। फालतू=व्यर्थ। जोखिम=खतरा।

सर्वात्मा=परमात्मा। नित्य-क्रिया=रोज का काम। अंशी=ईश्वर। सर्व=सम्पूर्ण ईश्वर। अंशात्मा-आत्मा=जो कि अंशी का अंश है। परिमित=सीमित, सीमाबद्ध। परमावस्था=उच्चावस्था। परमभावमय=ईश्वर। कोप=क्रोध। आवाहन=बुलावा। आपद-ग्रस्त=आपत्ति में फंसा हुआ।

निमित्त=के लिये। स्वानुरूप=अपने अनुरूप। परमानुभूति=उसे ईश्वर

का साक्षात्कार। चिन्मय=चैतन्य ईश्वर। कुक्कुर=कुत्तों का समाज। परमार्थ—दूसरे की भलाई। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'=धर्म की रक्षा करने से धर्म हमारी रक्षा करता है।

प्रादुर्भाव=उत्पन्न। अवलम्ब=आधार, सहारा। अलौकिक=इस लोक से परे, अद्भुत। विनोद=प्रसन्नता। निर्मल—स्वच्छ। वन्दना—प्रणाम विनती। उलाहना=गिला करना। दाक्षिण्य=कृपा, अनुग्रह।

सामीप्य सिद्धि=समीपता को प्राप्त करना। मधुर-मूर्ति=सुन्दर मूर्ति। विशाल=व्यापक। लुब्ध=लोभ। क्षुब्ध=दुःखी। प्रफुल्लता—खुशी। विमाता =सौतेली माँ। पुलकित—पुलकन होती है, प्रसन्नता के कारण सिहरन। परिष्कार=सुधार। निर्लिप्त=स्वतन्त्र रहकर, बिना फंसे।

व्यापकत्व=विशदता। एकान्तिक=सीमित। पराक्रम=बल। उत्कर्ष= ऊंचा। रागात्मिका वृत्ति=मनुष्य में सहायता का भाव। विशुद्ध=शुद्ध, पवित्र।

पाखण्ड=ढोंग। शिष्ट=पूज्य, अच्छे। सर्वांगपूर्ण=सभी प्रकार से पूर्ण। अबला=निर्बल, कमजोर। क्रूर=जालिम, अत्याचारी। पिशाच= नीच। गर्हित=तुच्छ, नीच।

———

महत्त्वपूर्ण वाक्यों का भावार्थ

पृष्ठ १७. **"श्रद्धा महत्त्व की···पूज्य बुद्धि का संचार है।"**

श्रद्धालु किसी व्यक्ति के विशेष गुणों को देखकर उसका महत्त्व प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता है। उसके महत्त्व को प्रसन्नचित्त स्वीकार करने के साथ-साथ श्रद्धालु श्रद्धेय में पूज्य भाव भी रखता है।

पृष्ठ १८. **"प्रेम में घनत्व अधिक है श्रद्धा में विस्तार।"**

प्रेम का क्षेत्र सीमित है। यह दो प्रेमियों का एक सीमित संसार है। वे इसमें ही विचरते हैं। प्रेमी या प्रेमिका यह कदापि नहीं चाहते कि जिससे वह प्रेम करता या करती है उससे कोई और भी प्रेम करने लगे। इसी कारण इसकी सीमा बड़ी संकीर्ण है। श्रद्धा में श्रद्धालु यही कामना करता है कि उसके पूज्य देव में अधिक से अधिक श्रद्धा रखने वाले हों। इसीलिये श्रद्धा क्षेत्र विस्तृत माना गया है।

"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा···जागरण है।"

प्रेम का आधार कल्पना होने के कारण यह स्वप्न है। यह अनुमान या

काल्पनिक सौन्दर्य से उत्पन्न होता है पर श्रद्धा का आधार प्रत्यक्ष गुण, प्रयत्न या कर्म होता है। इसी कारण श्रद्धा को जागरण कहा गया है।

पृष्ठ १६. **"श्रद्धा में दृष्टि···उसके कर्मों आदि पर जाती है।"**

श्रद्धा में व्यक्ति पहले किसी मनुष्य के विशेष कर्म या गुणों को देखता है। पुनः उसमें श्रद्धा रखने लगता है। पर प्रेम में व्यक्ति गुण या कर्मों पर पहले दृष्टि नहीं डालता अपितु उसके आकर्षण का कारण सुन्दर रूप हो सकता है। पर अन्त में प्रीति में भी दृष्टि कर्मों पर ही जाती है। अन्तर यह है कि श्रद्धा श्रद्धेय के लोक-कल्याण के कर्मों में रुचि देखकर ही उत्पन्न हो जाती है। इसमें कर्म को महत्त्व दिया जाता है, रूप को नहीं। पर प्रेम में कर्म गौण हो जाता है, और रूप को प्रधानता दी जाती है।

पृष्ठ २२. **"श्रद्धा का मूल तत्व है दूसरे का महत्त्व-स्वीकार।"**

श्रद्धालु में श्रद्धा का भाव तभी उत्पन्न होता है जब वह किसी मनुष्य में विशेष गुणों के कारण उसके महत्त्व को स्वीकार करता है। श्रद्धेय के महत्त्व को स्वीकार करना श्रद्धा का मूल तत्त्व है।

पृष्ठ ३१. **'श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति।"**

हमारी श्रद्धा का पात्र वही व्यक्ति हो सकता है जो कि गुणवान हो, बलवान हो। इन्हीं गुणों को देखकर व्यक्ति उसमें श्रद्धा करने लगते हैं। पर दया का पात्र वह होता है जो निर्बल हो, जो अपने जीवन का निर्वाह भी पूर्ण रूप से नहीं कर सकता। उसकी इसी दुःखपूर्ण दशा को देखकर हम दया का भाव प्रकट करते हैं।

पृष्ठ ३२. **"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।"**

श्रद्धा और प्रेम के सम्मिलन से भक्ति नाम के उच्च भाव की उत्पत्ति होती है। श्रद्धा पात्र में जब व्यक्ति सामीप्य की कामना करता है या यों कहिए कि श्रद्धेय से प्रेम भी करना चाहता है तो उसी क्षण उसमें भक्ति नामक भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। भक्ति में भक्त ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है।

पृष्ठ ३५. **"भक्ति के लिये दैन्य : लघुत्व की भावना पहली बात है।"**

श्रद्धा में श्रद्धेय के महत्त्व को स्वीकार करना होता है—पर भक्ति में पूज्य देव के महत्त्व को स्वीकार करने के साथ-साथ अपने को सदैव तुच्छ

समझना भी अनिवार्य है। भक्त को सदैव यही चाहिये कि वह अपने को क्षुद्र स्वीकार करते हुए भगवान का गुण-गान करता जाये।

करुणा

शब्दार्थ—विवेचन-क्रम=अच्छे-बुरे की पहचान। स्वाभाविक=प्राकृतिक। आरोप=स्थापित करना, अनुमान करना। कार्य-कारण-सम्बन्ध=कार्य करने में जो कारण का सम्बन्ध होता है—हम प्रत्येक कार्य कोई कारण होने पर ही करते हैं। अभ्यस्त=अनुभव, तजुरबा। अनुमान=अंदाजा।

चेष्टा=कोशिश। उत्तेजना=तीव्रता, तेजी। श्रेणी=विभाग। जवाहरात=सोने-चांदी के गहने।

अवस्था=स्तर। अवलम्बित=आधारित। प्रवाह=वहाव। अज्ञात=जो जाना, पहचाना न हो। कुल=वंश, खानदान। पीड़ा=कष्ट, दुःख। अपराध=दोष, कसूर। वर्तमान=विद्यमान, मौजूद। क्लेश=दुःख, कष्ट। तुष्टि=सन्तोष, शान्ति।

अपेक्षा=आवश्यकता। सुहृद्=प्रिय, भाई। सम्बन्धी=रिश्तेदार। हितकारी=भलाई करने वाला। उदय=जाग्रत, उत्पन्न होना। परिमित=सीमित। वेग=तेज़ी, तीव्रता। परिज्ञान=बोधज्ञान। करुणा=दुःख के भेदों में से वह भेद जो ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है। उत्तेजना=उत्साहित। संसर्ग=सम्पर्क, सम्बन्ध। परिचित=जान-पहचान। रमणी=स्त्री। व्याकुलता=आकुलता, दुःख। जीवन-निर्वाह=जीवन व्यतीत करना। सुगमता=सुविधा, सरलता। पूर्णता=पूर्ति।

संस्थापक=स्थापित करने वाला। सज्जनता=भलाई। दुर्जनता=बुराई। व्यक्त=प्रकट। निर्जन=एकान्त स्थान। निर्वाह=गुज़ारा। कोटि=श्रेणी। निर्लिप्त=बिना लगाव के, निःस्वार्थ। निवृत्ति=छुटकारा। उद्देश्य=लक्ष्य। निराकरण=त्याग। अनुग्रह=कृपा। आत्म-भाव=अपना भाव, अपना उद्देश्य। प्रतिकार—वदला।

भावी=भविष्य में होने वाली। सम्भाव्य=सम्भव। अकारण=बिना हेतु। सद्वृत्ति=अच्छा विचार।

अनर्थ=अत्याचार, अन्याय। कुपित=क्रोधित। इजाजत—आज्ञा। नियम-भंग=नियम का तोड़ना। निरपराध=निर्दोष। निसहाय=जिसका

कोई सहारा न हो। अनुचित=गलत, जो उचित न हो। समकक्ष=बराबर। वर्जित=मना। दम्भ=दिखावा।

स्थिर=स्थायी। निर्विवाद=बिना विवाद के, जिसमें कोई विवाद न हो। उपयुक्त=उचित।

वियोग=विरह, विछोह। परिवर्तित=बदल जाता है। प्रियजनों=प्रेमियों का सम्बन्धी। असह्य=जो सहन न किया जाय। प्रान्तिक भाषा=प्रान्त-विशेष की बोली। वियोग-जनित=विछोह से उत्पन्न।

अनिष्ट=हानि। क्षोभ=दु:ख। विषाद=दु:ख। घनिष्ठता=घनत्व, समीपता। संसर्ग=सम्पर्क, सम्बन्ध। सुहृद=प्रिय, बन्धु। कुव्यवहार=बुरा व्यवहार। त्रुटियों=कमजोरियों। अधीर=धैर्य छोड़ देना, उतावला होना।

पुष्टि=समर्थन। कल्याण=भला। अशक्त=निर्बल। अपाहिज=लूले, लंगड़े। विश्वात्मा=समस्त जगत की आत्मा, ईश्वर।

वेग-रहित=जिसमें तीव्रता नहीं होती। सहानुभूति—हमदर्दी। शिष्टाचार=अच्छा आचरण। निकम्मा=व्यर्थ। छद्म-शिष्टता=झूटी शिष्टता, दिखावे की शिष्टता। क्रमश:=धीरे-धीरे। चरती=भक्षण, खाना।

आलम्बन=आधार, सहारा। कृतज्ञ=दूसरे का उपकार मानना। औपन्यासिक=उपन्यास से सम्बन्धित। उद्धार=उपकार। प्रभावोत्पादक=प्रभाव उत्पन्न करने वाले।

संकुचित=संकीर्ण। पर-स्मृति=दूसरे की याद। लांघना=उल्लंघन करता हुआ, तोड़ता हुआ। विलाप=रोकर दु:ख प्रकट करना। अनुपयुक्तता=अनुपयोगी, जो लाभदायक न हो। प्रकारान्त=समय-भेद से। मन्द=धीमा।

सजीवता=जीवन, सहृदयता, सत्ता। नीतिज्ञ=नीति या राजनीति के जानने वाले। सान=एक पत्थर विशेष जिससे छुरी-चाकू तेज किया जाता है। परिमार्जित=मंजी हुई, परिष्कृत। विवश=मजबूर। स्वाद=आनन्द-मजा। शुष्क=सूखी। फुरसत=अवकाश, छुट्टी। क्रूर=अत्याचारी। कृत्रिम—झूठी, बनावट। हताश=घबराकर, हक्का-बक्का।

अनुसारी परिणाम=कार्य के अनुसार परिणाम। निष्ठुर=कठोर। मारी जायगी=समाप्त हो जायगी, नष्ट हो जायेगी।

हर्ज=हानि, नुकसान। अवस्था=हालत, स्थिति। कुवाक्य=बुरा

वाक्य । . मातहत=अधीन, नीचे । चिह्न=निशान । वसूल=प्राप्त । अकिंचन=तुच्छ, निर्बल, निर्धन । वशीभूत=अधीन । आत्मीय=सम्बन्धी, प्रिय ।

प्रतिकार=बदला । अपराध=कसूर, दोष । उपरान्त=बाद, पश्चात् । आपत्ति=कष्ट, विपदा । शोचनीय=विचार करने योग्य । दुर्दशा=बुरी हालत । विपक्षी=दूसरे पक्ष (Petitioner) । क्षतिग्रस्त=जिसका नुकसान हुआ हो ।

पृष्ठ ४४. **"जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान···करुणा कहते हैं ।**

दुःख के भेदों में करुणा नाम के भाव का उदय उस समय होता है जबकि मनुष्य अन्य मनुष्यों के सम्पर्क में आता है । अन्य व्यक्तियों के साथ परिचय प्राप्त कर वह उनमें घुल-मिल जाता है । इससे प्राकृतिक रूप से वह दूसरे के सुख को सुखी होता है और दूसरे के दुःख में दुःखी होता है । इसी संसर्ग से प्राप्त ज्ञान से मानव में जिस वेगपूर्ण भाव का उदय होता है उसे कारण कहते हैं ।

पृष्ठ ५१. **"सामाजिक जीवन···प्रसार आवश्यक है ।"**

सामाजिक जीवन के लिए करुणा के मनोवेग का विद्यमान होना अत्यन्त आवश्यक है । सामूहिक जीवन का महत्त्व ही इसी में है । जबकि एक के दुःख से दूसरा भी दुःखी हो । यह नहीं कि एक व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी है तो दूसरा आनन्द करता रहे । इसलिए जब तक समाज में करुणा का भाव नहीं होगा उसकी एकता (Unity) सुरक्षित नहीं रह सकती । अतः समाज में करुणा का प्रसार या विस्तार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।

पृष्ठ ५५. **"करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं ।"**

"करुणा में व्यक्ति अपने दुःख से दुःखी नहीं होता—वह तो अन्य किसी प्रियजन या सम्बन्धी के दुःख से पीड़ित होता है । क्योंकि परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाने से अपने सम्पर्क में आने वाले सभी प्रियजनों का दुःख अपना दुःख हो जाता है ।

"करुणा सेंत का सौदा नहीं है ।"

करुणा का प्रदर्शन करना कोई सुगम कार्य नहीं है । इसमें अनेक

कष्टों को सहन करके व्यक्ति दूसरे के प्रति करुणा के भाव को प्रकट करता है। उसे कितनी ही विपदाओं को सहन करना पड़ता है।

———

"लज्जा और ग्लानि"

शब्दार्थ—प्रतिबन्ध=वर्जना, रुकावट। प्रमाण=सबूत (Proof)। धड़ाके=बिना रोक-टोक। चित्त—मन। धारणा=राय, विचार। आशंका=शक, संदेह। मात्र=केवल। संकोच—सिकुड़न, शर्म। स्वछंदता=स्वतन्त्रता, आजादी। विधान=नाश। स्थायी=दृढ़। लज्जाशील=शर्मीला। परवाह=चिन्ता, विचार। निर्लज्ज=बेशर्म।

मूर्खता=बेवकूफी, नादानी। धृष्टता,=बेशर्मी, मूर्खता। स्वत्व—हक, अधिकार। जता=दिखाना। सजीवता=सत्ता, जीवनयुक्त। लक्षणों=चिह्नों। दशा=हालत, अवस्था। चेष्टाएँ=इच्छाएँ। घड़ों पानी पड़ना=लज्जित होना। गड़ जाना=समाना। समा जाना=पृथ्वी में गड़ जाना।

स्पष्ट=साफ। त्रुटि=कमी, अभाव, कमजोरी। अनुमान=अन्दाजा। आचरण=व्यवहार। परिस्थिति-विशेष=विशेष अवस्था। दृष्टि=नजर, विचार। दोषी=अपराधी। उपहास=मजाक। घृणा=नफरत। आसरा=सहारा, अवलम्ब। मसाला=सामग्री। मौन=चुप। गुणानुवाद=बड़ाई, गुणगान। सकुचानि=लज्जित हुई।

विशुद्ध=शुद्ध। शैथिल्य=निर्बलता। अधिकतर=बहुधा। उदार=दयालु। क्रूर=कठोर, अत्याचार। निमग्न=लगे हुए। बाधाएँ=मुसीबतें।

सन्ताप=पछतावा, दुःख। शुद्धि=पवित्रता। विधान=विद्या, साधन, तरीका। उद्‌गार=वचन, भाव। दुराव=छिपाना। अस्वस्थता=निर्बलता। उपचार=इलाज, चिकित्सा।

अज्ञान=नासमझी, मूर्खता। प्रतिष्ठा=स्थापना। शरण=आश्रय, सहारा। बलिपशु=बलि के लिए पशु। सर्वांग=पूर्ण रूप से। भक्षण=खाना। अन्धकार-स्वरूप=अन्धेरे के समान।

दृष्टिपथ=जिस मार्ग पर जा रहे हैं। व्यवधान-कौशल=छिपाने की कला में योग। आत्मग्लानि=मन ही मन में पछताना। उपाय=तरीका।

संकल्प=दृढ़ निश्चय। सात्विक वृत्ति=सत्य-प्रधान प्रवृत्ति। राजसी-

वृत्ति=रजोगुण-प्रधान भावना । तामसी वृत्ति=तमोगुण-प्रधान प्रवृत्ति जिसमें तुच्छ कार्य किये जाते हैं । लोकलज्जा=संसार से शर्म । हिचकते=घबराते । कुकर्म=बुरे कार्य । अग्रसर=बढ़ना ।

लोक-बद्ध=सामाजिक । अयोग्यता=नालायकी, असामर्थ्य । दुराचार=बुरा आचरण । दुर्गुण=बुरे गुण, व्यसन, ऐब । तत्काल=उसी समय ।

निमित्त=हेतु, कारण । कुचक्र=जाल बिछाना, फांसने का प्रयत्न करना । वृत्तान्त=वर्णन । अपमान—अनादर । समाधान=निपटारा । निराकरण=छुटकारा । हीनता=तुच्छता । दोषोद्भावना=दोष का भाव । अनधिकार=बिना अधिकार, जिस पर हक न हो । आरोप=लगाना । परिहार=छुटकारा ।

उत्तम=श्रेष्ठ । कोटि=श्रेणी । दुष्कर्म=बुरा काम । मध्यम कोटि के मनुष्य=वे व्यक्ति जिनमें रजो गुण प्रधान होता है । अप्रिय=कटु, जो इच्छित न हो । विरसता=नीरसता, अरुचि । ग्लानिकारिणी=ग्लानि, उत्पन्न करने वाली । पैर थामना=रोकना । बन्ध्या=बांध, बांझ ।

फुरती=तेजी, चतुराई । असामर्थ्य=निर्बलता । चट=एकदम । कल्पित=मान कर, स्वीकार कर ।

अकारण=बिना कारण । अपमान=अनादर । सामर्थ्य-हीनता=दुर्बलता । खटकना=बुरा लगना । आत्मत्यागी=अपनी शुद्धि में लगे हुए । विगतमन=जो मन का नहीं करते । अनिष्ट=हानि । इष्ट=धर्म, कर्त्तव्य । श्रेय—आदर ।

सामान्य=साधारण । कार्य-विवरण=कार्यवाही का लेखा । हर्ज=हानि, नुकसान । प्रतिबन्धक=रोकने वाला । आभ्यन्तर=मानसिक । प्रतिबन्ध—रुकावट । विवेचनात्मक=विचारपूर्वक करने योग्य । प्रयत्न-साध्य=जिनके लिए प्रयास करना पड़ता है । मन-प्रवृत्त्यात्मक=जिनमें मन लगता है । स्वभावज=स्वाभाविक, प्राकृतिक । शिथिल=ढीली, मन्द । भलमनसाहत=शराफत । मेहमान=अतिथि । फरमाइशें=अनुरोध, पसन्द । बड़प्पन=बड़ाई, रोब ।

अप्रिय=बुरा । बेढंगा=भद्दा । दुःशीलता=बुराई । बाधा=विघ्न, रुकावट । तारीफ=प्रशंसा ।

फिक्र=चिन्ता । निर्वाह=जीवन व्यतीत करना । आहार=खाना-पीना

व्यवहार=आचरण। विधेय=विधान करने के योग्य। निर्दिष्ट=निश्चित, नियत। विशिष्ट=विशेष, खास। अवरोध=रोकना। खटक=डर, भय। मालूम=प्रतीत। आशंका=भाव। अव्यक्त=अस्पष्ट, जो प्रकट न हो। क्षणिक=क्षण-भर के लिए या थोड़े समय के लिए।

स्वभावत:=स्वभाव से, प्राकृतिक रूप से भीरु=डरपोक। धिक्कारे=बुरा-भला कहे।

त्रुटि=कमजोरी। धृष्टता=बुरा लगना। चिरस्थायी=अधिक समय तक दृढ़ रहने वाला। भूषण=शोभा, गहना। दूषण=दोष। मुग्धा=नायिका-भेद में से एक नायिका-विशेष। मध्या=यह भी एक विशेष नायिका होती है जिसमें लज्जा और काम भाव समान रूप से विद्यमान रहते हैं। रसिक=रस का पान करने वाले। उन्मत्त=मदमस्त, पागल।

पृष्ठ ५६. "दूसरों के चित्त में···उसे लज्जा कहते हैं।"

मनुष्य के मन में जब यह भाव उत्पन्न होता है कि कोई अन्य व्यक्ति उसे बुरा तो नहीं समझता, जब उसे यह निश्चय होने लगता है कि दूसरे लोग उसे तुच्छ समझते हैं, उसके सम्बन्ध में बुरा भाव रखते हैं, तब ऐसे भाव का उदय होता है जिसे लज्जा के नाम से पुकारते हैं।

पृष्ठ ५८. "अपनी बुराई, मूर्खता···उसे ग्लानि कहते हैं।"

व्यक्ति जब अकेला बैठकर अपनी ही त्रुटियों, या बुराइयों, या मूर्खता पर विचार करता है और उसके कारण जो उसे शर्म और संकोच होता है उसे ग्लानि कहते हैं।

पृष्ठ ५८. "ग्लानि अन्त:करण की शुद्धि का एक विधान है।"

ग्लानि एक ऐसा मनोवेग है जिसके द्वारा मन पवित्र हो जाता है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने आप ही स्वनिर्माण की कामना करता है। वह जब एकान्त में अपनी त्रुटियों पर दृष्टि डालता है तो उसे स्वयं से कुछ घृणा-सी होने लगती है और इसके साथ ही वह अपनी बुराइयों को दूर करने में प्रयत्नशील हो जाता है। वह अपने-आपको कोसता है और यही प्रयत्न करता है कि जो कुछ उसमें कमी है, जो अभाव है, उसे दूर कर सके।

———

"लोभ और प्रीति"

शब्दार्थ :—प्रभाव=त्रुटि, कमी। सान्निध्य=समीप होना, पास होना। प्रबल इच्छा=अत्यन्त तीव्र कामना। लोभ=लालच, वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा। प्राप्य=जो प्राप्त हो सके। सुखात्मक=सुख देने वाले। दुःखात्मक=दुःख देने वाले। अप्राप्त=अभाव, जो प्राप्त न हो। निहित=लीन, छिपा। आशंका=भय। वासना=इच्छा। व्यग्र=दुःखी होकर, आकुलता से।

विशिष्ट=विशेष, खास। सात्त्विक=सत्य भाव प्रधान। सामान्य=साधारण। सामान्योन्मुख=साधारण की ओर झुका हुआ। विशेषोन्मुख=विशेष के प्रति झुका हुआ। मुग्ध=लट्टू, आकर्षित। लुभाना=अच्छा लगना। व्यभिचार=भ्रष्टाचार, बुराई। स्थिर=दृढ़। एकनिष्ठ=एक ही व्यक्ति में स्थित। ललक=लालच।

अवयव=अंग। इच्छात्मक=इच्छापूर्ण। योग=मेल। हाथ फेरना=हड़प करना। मिष्टान्न=मिठाई। अभिरुचि=रुचि। रमणी=स्त्री। सुलभ=सरल। स्वतः=अपने आप। धातुखण्ड=धातु का टुकड़ा। धन संचय=धन इकट्ठा करना। लक्ष्य=उद्देश्य। निवारण=दूर करना। साध्य=प्राप्त करने वाली वस्तु।

प्रतिषेधात्मक=रुकावट डालने वाली, विरोध करने वाली। विरोध-ग्रस्त=विरोध के भाव से युक्त। कृत्य=कार्य। शिकायत=गिला। प्रवृत्त=लगे रहते हैं।

सदोषता=दोषपूर्ण। निर्दोषता=बिना दोष के। निर्भर=आधारित। आकांक्षा=इच्छा। गतिविधि=चाल-चलन। निरीक्षण=देखभाल, पड़ताल। अवरोध=रोकना।

कृत्रिम=बनावटी, झूठी। लक्षण—चिह्न, गुण। असंतोष=अशान्ति, बेचैनी। विनिमय=अदला-बदली (Exchange) आदान-प्रदान। आरोपित=लगाना। लक्ष्य=उद्देश्य। टकटकी=दृष्टि। टका=पैसा।

वृद्धि=बढ़ी, (Progress)। चाह=इच्छा, पसन्द। उपासक=भक्त गण, उपासना करने वाले। दशा=हालत, अवस्था। पारस्परिक=आपस की। राज-सम्मान=राजकीय आदर। निर्णय=फैसला। भीरु=डरपोक। कायर=डरपोक। टकाधर्म=पैसा ही धर्म हो गया। लोप=समाप्ति,

नाश। वणिग्धर्म - व्यापार करना, पैसे की शक्ति।

प्रधान—मुख्य। सौदागर=व्यापारी। प्रतिष्ठा=बोल-बाला। विजय =जीतना। कीर्ति=यश, प्रशंसा। डंके की चोट=निशंक, सबके सामने। हरण=चुराना। ताक में=अवसर की प्रतीक्षा में। जटिल=कठिन, जकड़ी हुई। व्यापारोन्माद=व्यापार का नाश।

सामान्य-विषयगत=साधारण वस्तु-प्रधान। प्रतिषेधात्मक=लोभ रोकने की इच्छा। संकुचित=सीमित, संकीर्ण। निवारण=दूर करना। निर्दिष्ट= नियत, निश्चित।

वाधा=रुकावट, विघ्न। स्वछंदता=स्वतन्त्रता। निंद्य=निन्दा के योग्य। उपवन=वाग। संपर्क=संबंध। दाम=पैसे। सद्भाव=अच्छे भाव। दल-बद्ध=दलों में बंधकर, इकट्ठे होकर। शून्य=वंचित, अभाव। निर्झर= नाले। चाह-भरी=इच्छापूर्ण। सुध=याद, स्मरण। प्रणय सौरभ=प्रेम-उत्पादक मद मस्त। हित-चिन्तन=भलाई की इच्छा वाला। हित-साधन=ऐसे साधन जिससे भलाई की जाये।

सान्निध्य=समीपता। राग=प्रेम। परच=हिल-मिल जाना, परिचित हो जाना। परिचय=जानकारी। वनस्थली=वन। चौपाये=पांव वाले पशु। अतीत=भूतकाल, प्राचीन। स्मरण=याद करना। निवासी=रहने वाले

अनजान=अपरिचित, न जानना। संयोग से=सौभाग्य से। पुरातत्त्व विभाग=प्राचीन इमारतों की रक्षा करने वाला विभाग। महक=सुगन्ध। वहा=चोट, धक्का, धब्बा। अन्वेषण=खोज।

स्वायत्त=एकाधिकार (Monopoly)। यथेष्ट=उचित। संरक्ष्य=रक्षा की जाने वाली वस्तु।

सुसज्जित=अच्छी प्रकार से सजी। सम्मिलित=मिलकर। ऐक्य सूत्र= एकता के सूत्र में बंधी। सुगम=सरल। नीतिज्ञ=राजनीति में दक्ष। निश्चयात्मिका=दिलाने वाली। झगड़ालू=झगड़ा करने वाला।

प्रशस्त=प्रबल, प्रशंसनीय। उपयोगी=प्रयोग। कृष्णसार=काले रंग का। मृग=हिरन। सौन्दर्य=सुन्दरता। मुग्ध=लट्टू। अनबन=लड़ाई, झगड़ा। पुर=नगर। परिमित=सीमित। निकटस्थ=समीप। परार्थ= दूसरे की भलाई के लिये। विपर्यय=उल्टा। विरले=थोड़े।

समस्त=सम्पूर्ण। भेदभाव=छोटे-बड़े का भेद। भेद कर=छेद कर।

उत्कर्ष=उच्चता, उन्नति। भूमण्डल=पृथ्वी। कीट-पतंग=कीड़े-मकौड़े। अभिलाषी=चाहने वाला। कण्टक=कांटे।

अनुचित=गलत। व्यग्र—पीड़ित, उतावले। ईर्ष्या=जलन। जघन्य=भयानक, डरावनी।

अतिक्रमण=लांघना, सीमा से अधिक होना। आधिक्य=बहुलता। स्वविषयान्वेषी=अपने विषय की छानबीन करने वाला। करुणा=दया, दूसरे के दुःख से दुःखी होना। आर्द्र=व्याकुल, दुःखी। पानी-पानी होना=लज्जित होना। प्रथम अवयव=पहला अंश। सुखात्म=सुखदायक। निवृत्ति=छुटकारा। तत्पर=लगा हुआ, उद्यत। स्तम्भन=कम्प। स्वाभान्तर्गत=स्वभाव के अधीन मनुष्य की प्रकृति के अधीन। उद्धत=उत्कृत, उग्र, प्रचण्ड। उग्र=प्रचण्ड।

उपभोग=खपाना (Consumption), प्रयोग करना। चित्त=मन, हृदय। घर कर लेना=समा जाना, प्रभावित करना। आतुर=दुःखी, व्याकुल। विमुख=मुँह मोड़े हुए। अभावमय=शून्य। असन्तोष=अशान्ति। नाता=सम्बन्ध।

असन्तुष्ट=व्याकुल, बेचैन। निमित्त=के लिए। आलस्य-सूचक=आलस्य को बताने वाला। व्यसन=बुरी आदत। निरसन=छोडना, उससे मुंह मोड़ लेना।

व्याधि=रोग। शेष=अन्य। कुंठित=शक्तिहीन। सुख-भोग=सुख भोगने की इच्छा। अनाथ=असहाय। सर्वस्व-हरण=सब कुछ छीन लेना। धनिक=धनवान। दुतकार=फटकार। परिजनों=दूसरे मनुष्यों। कष्ट-क्रन्दन=दुःख को दूर करना।

दमन=वासनाओं को मारना। योगियों=सिद्ध, योगी, महात्मा। आकृति=मुख-मण्डल। रोष=क्रोध। आकांक्षा=इच्छा। इन्द्रिय-निग्रह=इन्द्रियों का दमन। अनुकरणीय=अनुकरण करने के योग्य। निष्ठुरता=कठोरता। अविवेक=मूर्खता। विगर्हणीय=फटकार के योग्य, भर्त्सना के योग्य।

लक्ष्यभ्रष्ट=उद्देश्य से भूले हुए।

एकनिष्ठ=एक ही लगन। रूपवान=सुन्दर। प्रेम-वाचक=प्रेम के बताने वाले। लक्षित=ज्ञात, पता चलना।

विलक्षण=अजीब, अद्भुत। मनस्तत्व=मन की प्रवृत्ति। लुब्ध=लोभ

से आकृष्ट, लोभी। सत्ताएं = शक्तियाँ। कोटि = श्रेणी।

चेतना = संवेदना का बल। अन्तर्वृत्ति = मन का लगाव। प्रेमासक्त = प्रेम से आकर्षित।

तुष्टि = तृप्ति। अपेक्षा = आवश्यकता। अन्तर्योग = हृदय का भीतरी सम्पर्क। न्योतो = निमन्त्रण, बुलावा।

उपरान्त = पश्चात्। सहसा = एकदम। खास ढब = विशेष प्रकार से। सुशील = सरलता। नितुणता = दक्षता। प्रदर्शन = निखाना। मग्न = लीन।

हृदयों का योग = हृदयों का मेल। नाना = अनेक। वियोग = बिछोह। अभिन्नता = संयोग, मेल। अखिल = सम्पूर्ण।

कष्टसहिष्णुता = कष्ट सहन करना। प्रेमोन्मद = प्रेम का नशा। विछिन्न = पृथक्। प्रियपक्ष = प्रेमी के पक्ष का। प्रबल = शक्तिशाली। विराग = विरक्ति, विमुखता। एकान्तिक = एक पक्ष का।

अनुरंजनकारी = मनोरंजन कराने वाला। अस्तित्व = सत्ता। रमणीयता = मनोहरता, सुन्दरता। दिव्य = व्यापक। आभा = चमक। प्रफुल्लता = खुशी। प्रदर्शित = दिखाता है। समग्र = सम्पूर्ण। सृष्टि = संसार। वाक्-सौंदर्य = बोल-चाल की सुन्दरता। भाव-सौंदर्य = सुन्दर भावों का होना। अट्टालिका = महल। गवाक्ष = सुराख, झरना। निकट = भयंकर। समन्वय = मेल।

संश्लिष्ट = मिले-जुले। दंडकारण्य = दण्डक नाम का वर्ग। विस्तृत = व्यापक। माधुर्य = मधुरता, मिठास। प्रसूनमय = फूलों से युक्त। कोमलांगी = कोमल अंगों वाली। विशाल = व्यापक। निविड़ = घने। निर्जन = एकान्त। कानन = जंगल। निशंक = निर्भय। विचरना = घूमना। कोलाहल = शोर।

मरीज = रोगी। संजीवन रस = जीवन प्रदान करने वाला रस। ज्योति = चमक, आभा। नीरसता = शुष्कता। अनुग्रह = कृपा। समीचीन = उचित, समय के अनुकूल। विरक्त = संसार का मोह त्याग करने वाला। चराचर जगत = अचल और चल संसार। विभूति = महान् आत्मा।

दीन = दुःखी। तिलमिलाना = लहू का उबलना। हाथ थामना = सहारा देना। क्रीड़ा = खेल। विनोद = खुशी, प्रसन्नता। प्रयोजन = वास्ता, सम्बन्ध। विरक्ति = मोह का त्याग। संयमी = अपने ऊपर नियंत्रण रखने वाला। लोक-

मंगल=संसार का कल्याण। त्याज्य=त्याग करने योग्य। सहृदय=प्रिय।

लोकबद्ध=संसार से सम्बंधित। विषय=एक पक्ष में ही। प्रादुर्भाव=उदय, उत्पन्न। तुल्यानुराग=समान प्रेम।

द्रवित=मन को पिघलाने वाली। अपेक्षित=आवश्यक। पर्याप्त=काफी। अधिकारी=हक योग्य। अन्तस=हृदय। दारुण=दुःखी। वेदना=पीड़ा, कष्ट।

तुल्यानुराग=बराबर का प्रेम जो दोनों पक्षों में समान हो। पूर्व तक=पहले तक। प्रकर्ष=उत्कर्ष। सम्भावना=आशा। आशिक=प्रेमी।

प्रतिष्ठा=स्थापना। रसभास=रस का आभास-मात्र होना। विरक्त=उदासीनता, विमुख होना। प्रमाण=सबूत। तिरस्कार=उपेक्षा, लापरवाही। अनुरक्त=प्रेम करना।

विह्वल=व्याकुल, आकुल। अतृप्ति=असन्तोष। क्षोभ=दुःख। उत्कर्ष=उत्साह। विरत=पृथक्। अविचल=स्थिर।

सान्निध्य=सामीप्य। शान्ति-लाभ=शान्ति की प्राप्ति। प्रतिवर्तन=प्रतिकार, बदला (Reaction)। विप्लव=विद्रोह। आशंका=डर।

उत्कृष्ट=श्रेष्ठ, सुन्दर। साहचर्य=साथ-साथ रहना। वेग=तीव्रता। विच्छेदकाल=वियोग में।

विलक्षणता=अजीब बात, अद्भुतता, अनोखी बात। व्यंजना=व्यक्त, प्रकट। दीर्घ-निःश्वास=लम्बी सांस। हर्षपुलक=प्रसन्नता के कारण पुलकित। संयोग पक्ष=जिसमें दो प्रेमी साथ-साथ रहते हैं। स्थायित्व=स्थिरता, दृढ़ता। जुगुप्सा=घृणा। रसराज=सब रसों का राजा।

पृष्ठ ६९. **"लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।"**

जब मन में किसी साधारण वस्तु के अभाव की पूर्ति की इच्छा जाग्रत होती है उस वस्तु की प्राप्ति की लालसा जग जाती है तो उसे लोभ के नाम से सम्बोधित किया जाता है। लोभ का झुकाव साधारण वस्तु के प्रति होता है। यही लोभ या इच्छा जब किसी वस्तु या व्यक्ति-विशेष के प्रति होती है तो उसे प्रेम कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मन की ललक जब किसी वस्तु के प्रति होती है तो उसे लोभ कहते हैं तथा व्यक्ति-विशेष के प्रति जब मन की ललक होती है तो वह प्रतिमा प्रेम-कहलाता है।

पृष्ठ ७६. **"इस साहचर्यगत प्रेम में……बराबर उमड़ा रहता है!"**

जो प्रेम साहचर्य के कारण उत्पन्न होता है उनमें संयोग पक्ष में तो इतनी तीव्रता प्रतीत नहीं होती – पर वियोग होते ही जब अतीत की स्मृति आती है तो मन बड़ा विकल हो उठता है। उस समय संयोग के सभी सुखों की ज्यों-ज्यों याद आती है त्यों-त्यों प्रेम उमड़ पड़ता है। उसमें अधिक तीव्रता उत्पन्न हो जाती है।

—:०:—

"घृणा"

सृष्टि=संसार, जगत। विस्तार=प्रसार। रुचिकर=आनन्ददायक, अच्छे। अरुचिकर=नापसन्द, बुरे। सुभीते=सुविधा। स्थूल=शारीरिक। रस=स्वाद। स्पर्श=छूना। घृणा=नफरत। घ्राण=सूंघने की शक्ति प्रतिकूल=विरोधी। सर्वथा=बिल्कुल। परोपकार=दूसरे का भला करना।

उग्र=तीव्र, तेज। उद्वेग=दुःख, उत्साह। तुरन्त=उसी समय, एकदम। व्यभिचारी=बुरे कर्म करने वाला। आघात=चोट। दुर्गन्ध=बदबू, बुरी गन्ध। करतूत=काम (साधारणतः बुरे कामों के लिए प्रयुक्त होता है)। घिन— घृणा। अश्लील=बुना। जिसमें शील का प्रभाव होता है।

वज्रपात=पत्थरों का गिरना। कलुषित=बुरा। क्रियोत्पादिनी शक्ति= काम में लगाने की शक्ति। निवृत्ति=अकर्मण्यता। साधु लोग=भोलेभाले पवित्र हृदय वाले व्यक्ति। उदासीन=दूर होकर, विमुख। दुर्जन=बुरे व्यक्ति। उपेक्षा=लापरवाही। आकस्मिक=अचानक। अग्रसर=बढना। निष्फल=फजूल, व्यर्थ, निरर्थक।

निर्दिष्ट=निश्चित। वेश्यागमन=वेश्या के पास जाना। मद्यपान= शराब पीना। लम्पटता=दुष्टता। पाषंड=ढोंग। मिथ्याभिमान=झूठा घमण्ड। विवेश=मजबूर। अनुबन्ध=सम्पर्क, सम्बन्ध। उद्भावना= कल्पना, उत्पत्ति।

असहाय=निर्बल। निष्कण्टक=समतल मार्ग, जिसमें कोई बाधा न हो। गति=चाल। हितकामना=भला चाहना। अनुमित=अनुमान लगाये हुए। मक्कार=धोकेबाज।

देवपूजकों=देवों की पूजा करने वाले। दुश्मनी=बैर। ठानना=पक्का इरादा करना। कृतघ्नता=दूसरे का उपकार न मानना। देवाराधन=देवता

की पूजा। महापातक=महापाप। शैतान=दुष्ट। संकीर्णता=संकुचित दृष्टि।

ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य। अनियति=बुरी नीति। कुटिल=चालाक। दुर्बलचित्त—कमजोर दिल वाला। रसिक=रस का आस्वाद करने वाला। विषयासक्ति=विषयों में लीन होना। हठ=जिद्द करना। किफायत=बचत।

प्रेष्य=ऐसे भाव जो एक में उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी उत्पन्न हो जायें। अप्रेष्य=जो एक हृदय में ही उत्पन्न होकर रह जायें।

सजातीय=अपनी जाति का, अपने जैसा। भीषण=भयंकर। सावधान=सचेत, होशियार। विजातीय=अन्य प्रकार के। क्लेशित=दुःख पड़ा हुआ। भयभीत=भय से डर कर। अहित-कामना=बुरा भाव।

निर्धारित=निर्णय, निश्चय। यत्नपूर्वक=यत्न से। खालिस=शुद्ध। क्रोधमिश्रित=क्रोध से मिली हुई। अभिप्राय=आशय, मतलब, तात्पर्य।

आशंका=भय, डर। आकुलता=व्याकुता। अनिच्छा=घृणा, जिसमें चाह न हो।

भावी=भविष्य में होने वाली। संकोच=शर्म। तीव्र=तेज, बहुत। क्लेश=दुःख। अन्धकार=अन्धेरा। अनिवार्य=आवश्यक। आपदाओं=मुसीबतों, विपदाओं। पूर्वज्ञान=पहले जान लेना। अलबत्ता=सम्भवतः।

ईर्ष्या

ईर्ष्या=जलन, दूसरे का भला न देख सकना। संयोग=सम्मिलन, मेल। प्रादुर्भाव=उत्पत्ति। संकर=मिला हुआ। संप्राप्ति=प्राप्ति। नैराश्य=निराशय, नाउम्मीदी। व्यक्त=प्रकट। उत्तेजित=उकसाई हुई, उत्साहित।

स्पर्धा=काम की उत्साहित इच्छा। लक्ष्य=ध्येय। व्यक्तिगत=व्यक्ति से सम्बन्धित। वस्तुगत=वस्तु से सम्बन्धित। आभास=पता चलना। वंचित=अभाव, शून्य। गौण=कम महत्त्व का।

सम्पन्न=पूर्ण, दक्षता। उद्वेगपूर्ण=शक्तिशाली। उत्तेजना=उत्साह। वेगपूर्ण=तीव्र। चित्ताकर्षक=मन को खींचने वाली। साक्षात्कार=समीपता, मिलन। परिज्ञान=ज्ञान। वित्त=धन। आशा-प्रेरित=आशा से प्रेरणा पाकर। पुरुषार्थ=मेहनत, परिश्रम। परिवर्तन=बदलना।

झलक=स्पष्ट । विकार=मन का भाव । गणना=गिनती । यथार्थ=वास्तव में। समुन्नत=उन्नत । तुल्य=बराबर । कसर=त्रुटि, कमी । अनिष्ट=हानि । वांछित=इच्छित ।

दूरस्थ=दूरी पर स्थित, दूर । सहपाठियों=साथ-साथ पढ़ने वाले । लड़कपन=बचपन, बाल्यकाल । पंक्ति=लाइन । सूत्रपात=आरम्भ । अटल=जो टल न सके । अजेय=जिसे जीता न जा सके ।

गुप्त रूप से=चोरी-चोरी, छिपकर । समुदाय=दल । विदित=पता, ज्ञात, बताना । अनोखी=विचित्र । विष=जहर । संघर्ष=युद्ध । मसल=कहावत । बला=मुसीबत, आपत्ति । गिरफ्तार=फँसे हुए । विशेषत्व=विशेषता । परिहार=छुटकारा, निवारण । तत्सम्बन्धी=उनके सम्बन्ध की । क्लोरोफार्म=बेहोश करने वाली दवाई ।

क्षुद्र=तुच्छ । विभाग=भाग, श्रेणी । प्रतिभा-सम्पन्न=प्राकृतिक बुद्धि से युक्त । जुदे-जुदे=पृथक्-पृथक् । असमर्थ=अयोग्य, निर्बल । भाव-प्रवर्त्तन =भाव का संचार, दूसरे रूप में बदलना । अनन्य=पूर्ण, पूरा ।

धारणा=राय, विचार । असत्य=झूठ । समावेश=मेल से । सापेक्षता =सम्बन्ध, मेल । असार=सार रहित, व्यर्थ ।

अहंकार=घमण्ड । लोक-व्यवस्था=संसार का प्रबन्ध, जगत का संचालन । धर्म-चिन्तक=धर्म पर विचार करने वाले, धर्मानुयायी । नियुक्त=निश्चित, नियत । सम्मान=आदर । अपराध=पाप । स्वत्व=प्रेम, अधिकार ।

अनौचित्य=जो उचित नहीं । चौकसी=सचेतता । क्षतिग्रस्त=हानि पहुँचायें । निर्दोष=दोष-रहित । नियमित=निश्चित । अवसर=मौका । सामर्थ्य=शक्ति । संशोधन=सुधार । स्वांग=ढोंग । राजबल=राज्य की शक्ति ।

आहत=चोट खाकर । दुर्व्यसन=बुरी आदत । सहगामिनी=साथ चलने वाली, सखी । उन्नति=प्रगति ।

असम्पन्नता=अयोग्यता । अपूर्ति—जो पूरा न हो । आशंका=भय, डर । शुद्ध=सच्ची । आकांक्षा=इच्छा । कुढ़ना=जलना । ऐंठ=घमण्ड, अकड़ । अपमान=अनादर । निषेध=इन्कार ।

कुवाक्य=बुरा वाक्य । दुखाना=कष्ट देना । उतारू—उतर आना, तैयार हो जाना । नामाकूल=अनुचित । बाधा=विघ्न, रुकावट ।

निष्फल=व्यर्थ, निरर्थक । अंग-प्रत्यंग=एक-एक अंग । तुष्टि=पूर्ति, सन्तोष । सुगम=सरल । निरापद=बिना प्राप्ति । क्रुद्ध=क्रोधित

प्रयत्नोत्पादिनी=प्रयत्न करने का भाव उत्पन्न करने वाली । नैराश्य=निराशा । हारकर=पराजित होकर । उज्जवल=साफ, चमकीली । फुरसत छुट्टी, अवकाश । अनन्तता=व्यापकता ।

अप्रेष्य—जो एक के मन में जागृत होने से दूसरे के मन में उत्पन्न नहीं हो सकता । अनिष्टकारिणी=हानि पहुँचाने वाली । आभास=झलक । जुर्म—अपराध, कसूर ।

धारणकर्त्ता=धारण करने वाला । असावधानी=अपने आप, बिना जाते । कुत्सित=बुरी । निदर्शन=प्रदर्शन, दिखाना ।

पृष्ठ १०५. "ईर्ष्या-प्राप्ति की उत्तेजित इच्छा नही है ।"

ईर्ष्यालु में किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा नहीं होती । इसमें तो व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से जलन होती है । ईर्ष्यालु यही चाहता कि हमारे पास अमुक वस्तु हो चाहे न हो पर दूसरे के पास इस वस्तु को नहीं होना चाहिये ।

पृष्ठ १०६. "स्पर्द्धा में अपनी—सम्पन्नता पर नहीं ।"

जहाँ ईर्ष्या में व्यक्ति दूसरे की उन्नति या सुख से जलता है, वहां स्पर्धा में व्यक्ति अपने में त्रुटि देखकर दुःख का अनुभव करता है । जब वह अन्य व्यक्ति में किसी गुण का अवलोकन करता है जो वह भी यह इच्छा करता है कि उसमें भी वह गुण किसी प्रकार आ जाता । उसे अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, दूसरे को सम्पन्न देखकर जलन नहीं होती—अपितु उसकी सम्पन्नता से वह प्रोत्साहन प्राप्त करता है । इसलिए स्पर्धा एक प्रकार का सुन्दर भाव है जो व्यक्ति को प्रवृत्ति के पथ पर अग्रसर करता है ।

पृष्ठ ११६. "अभिमान··· ···ईर्ष्या उसकी सहगामिनी है ।"

घमण्ड करना एक बुरी आदत है । इसमें व्यक्ति अपनी बड़ाई को सुनने का आदी हो जाता है । वह सदैव अपनी प्रशंसा को ही सुनना चाहता है तथा इसके साथ-ही-साथ दूसरे की बुराई को सुनने का भी इच्छुक हो जाता है । ईर्ष्या, बैर या द्वेष अभिमानी का साथ देते हैं । वह सदैव दूसरे की त्रुटियों पर ही व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करते हैं । इससे व्यक्ति उन्नति के मार्ग पर कभी भी अग्रसर नहीं सकता । वह सदैव दूसरे के सुख से जलता

रहता है और अकर्मण्य होकर बैठा रहता है—जो कि मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है।

भय

शब्दार्थ—आपदा=मुसीबत, विपत्ति। साक्षात्कार=सम्मुख आने पर, समीप होने पर। स्तम्भ-कारक=कम्पा देने वाला। आकुल=व्याकुल। स्वरूप-बोध=स्वरूप का ज्ञान, जानकारी। निर्दिष्ट=निश्चित। गंवार=असभ्य।

असाध्य=जिसका प्रयास करने से भी निवारण न हो सके। असंभव=मुश्किल, नामुमकिन। अवलम्बित=निर्भर, आधारित। अनिवार्यता=आवश्यकता। विवशता=मजबूरी। अक्षमता=अयोग्यता। स्तंभित=कम्पित, सम जाना। उद्योग=परिश्रम।

स्वभावगत=स्वभाव के कारण, प्रकृतिगत। कायरता=डर। भीरुता=भय। संयोजक=मिलाने वाले। अक्षमता=निर्बलता। अभिप्राय=आशय, मतलब। अर्थहानि=धन का नुकसान। व्यवसाय=कारोबार, धन्धा। परास्त=हार। शास्त्रार्थ=वाद-विवाद। निहित=आरोपित, छिपा हुआ।

संभावना=आशा। अनुमान=अन्दाजा। आशंका=भय, डर। सज्ञान=योग्य, ज्ञानवान। संचित=इकट्ठे। आफत मुसीबत, आपत्ति। संघटन=एकता।

दुःख-परिहार=दुःख से छुटकारा। अपरिचित=जो जान-पहचान का न हो। बाहुबल=शारीरिक शक्ति। सुखमय=सुख देने वाला। व्यतिक्रम=बाधा, विघ्न, क्रम का तोड़ना। विरल=थोड़े। उत्तरोत्तर=क्रमशः। बेधड़क=बिना रोक-टोक।

वासना=इच्छा। क्रमशः=धीरे-धीरे। अभ्यस्त=अनुभवी। ज्ञानबल=बुद्धि-बल। हृदयबल=मानसिक शक्ति। वृत्ति=उन्नति। जटिल=कठिन। क्षोभकारक=दुःख देने वाली। आवरण=पर्दा। खटका=डर, भय।

सुखद=सुख देने वाला। व्यवस्था=प्रबन्ध। एकाशाही=एकाधिकार (Dictatorship)। फुसलाना=वश में करना।

विषमता=एक पक्ष की। अमंगल=हानि। रत=लगे हुए। त्रस्त=भयभीत, डरे हुए। अनिष्ट प्रभाव=हानि पहुंचाने वाला प्रभाव। अशुभ=

बुरा। प्रसार=विस्तार । अर्थोन्माद=धन का नाश । सिलसिला=क्रम । आक्रमण=हमला । दीर्घ=अधिक समय तक । प्रणालियाँ=रीतियाँ, रिवाज। कंगाल निर्धन, गरीब । कारागार कैदखाना, हवालात ।

अन्धनीति बिना विचार के नियमों का पालन करना । अनर्थ हानि, नाश । स्वदेश=अपना देश । आध्यात्मिकता=धर्म में निष्ठा ।

वर्त्तमान=उपस्थित । स्थायी=स्थिर, दृढ़ । सबल=बलवान । अर्थ-शोषण=धन चूसना । प्रक्रिया=क्रम । अनवरत=बराबर, लगातार । विराम=रुकावट, अवकाश । सार्वभौम=समस्त जगत से सम्बन्धित । क्षात्र-वृत्ति=क्षत्रिय धर्म का स्वभाव, दूसरे की रक्षा करना । विलक्षण=अजीब ।

मुक्तातंक=कष्ट से रहित । चक्रव्यूह=चक्र, फेर । निर्भय=निडर, बिना डर के । सम्पादन=प्राप्त करना । अपेक्षित=आवश्यक । पुरुषार्थ=मेहनत करना । साधु प्रकृति वाले=भले स्वभाव वाले । दुर्जन=दुष्ट । विफल=निष्फल, असफल । भय-संचार=भय का होना ।

—०—

क्रोध

शब्दार्थ--क्रोध=गुस्सा । उदय=उत्पन्न । सज्ञान=जानकारी के साथ । आविर्भाव=आगमन, उत्पत्ति । शिशु=बच्चा । आकृति=शक्ल ।

प्रहार=चोट । विवेक=बुद्धि । चिरस्थायिनी=अधिक समय तक रहने वाली । अभिप्राय=आशय, मतलब । सृष्टि=संसार ।

परिणाम=फल । दृष्टान्त=उदाहरण । उपयोगी=लाभदायक । व्यापक=विस्तृत । प्रतिकार=बदला ।

उग्र चेष्टा=तीव्र इच्छा । आलम्बन=आधार । पश्चात्ताप=पछताना । क्रोध-पात्र=जिस पर क्रोध किया जाता है । दुष्परिणाम=बुरा फल । विरत=हट जाना, अलग हो जाना । पूर्वकृत=पहले किया हुआ । दुर्व्यवहार=बुरा व्यवहार । गर्व चूर्ण=घमण्ड का तोड़ना ।

अपरिष्कृत=अशुद्ध, जो मंजा हुआ नहीं, झूठा । प्रबल=अटूट, शक्ति-शाली । अव्ययस्था=बुरा प्रबन्ध ।

फुरतीला=तेज, चालाक । तुष्टि=पूर्ति, सन्तोष । क्रूर=अत्याचारी । कुमार्गी=बुरे रास्ते पर चलने वाला । वाहवाही=शाबाशी, प्रशंसा ।

शान्ति-भंग=अशान्त करना, बेचैन करना । क्रोध-प्रदर्शन=क्रोध दिखाना ।

त्योरी चढ़ना=गुस्सा करना । निरोध=विरोध करना; रोकना । प्रतिबंध= रुकावट । परपीड़कोन्मुख=दूसरे को दुःख पहुँचाने की ओर झुका हुआ ।

अर्थ-परायण=धन का लोभ । वसूल=प्राप्त । ध्वजा=पताका, झंडा,

प्रेरक=प्रेरणा देने वाले, उत्साहित करने वाले । पराया=दूसरे का । हद=सीमा । क्रोधोत्तेजक=क्रोध बढ़ाने वाला । सम्पर्क=संसर्ग, सम्बन्ध । मनोहर=दिल को लुभाने वाला । आत्मीय=अपने प्रिय । परिजन=दूसरे का । कसर=कमी । निर्विशेष=सामान्य । वध=मारना । करुणा=दुःख के भेदों में से एक भेद । श्रीहत=शोभा का नाश । लावण्य=सौंदर्य । सूत्रपात=आरंभ : नैराश्य=निराशा, नाउम्मीदी । कायरता=भीरुता । शिथिलता=ढीलापन । तत्परता=तैयारी । प्रभा=आभा, चमक । क्रोधाग्नि=क्रोध की आग । कालाग्नि=यमदेव की आग । सदृश=समान । सात्विक-तेज=सत्य पर आधारित तेज । तामस ताप=तामसिक वृत्ति की आग ।

दण्ड=सजा । कोप=क्रोध । राजकोष=सरकारी कोष । धीमी= मन्द । युक्ति=उपाय । कालकृत=समय के अनुरूप । दुःखदाता=दुख देने वाला । वैर=मन में बहुत समय तक क्रोध का टिक जाना वैर कहलाता है, द्वेष । आलंकारिक=सजा हुआ ।

व्यंजना=प्रकट, दुःखी । सुभीता=सुविधा । सम्प्रदाय=संघटन विशेष । निरूपित=कहे हुए, बताए हुए । सामग्री=सामान । हौसला=साहस । बरकत= कृपा, अनुग्रह ।

असह्यता=सहन न करना । क्षोभयुक्त=दुःखपूर्ण । अमर्ष=क्रोध, गुस्सा । उन्मुख=झुका हुआ ।

पृष्ठ १३८. **"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।"**

वैर क्रोध का सबसे दृढ़ रूप है । जब क्रोध हमारे मन में अधिक समय तक टिका रहता है तो वह वैर कहलाता है । स्थिर रूप से मन में टिक जाने के कारण क्रोध का भाव कुछ धीमा पड़ जाता है पर दुःख देने की भावना पूर्ण रूप से बनी रहती है । प्रतिकार का भाव सदैव विद्यमान रहता है ।

कविता क्या है ?

शब्दार्थ—अनन्त-रूपात्मक=जिनके रूपों या प्रकारों का कोई अन्त न हो । व्यवसाय=धंधा । सत्ता=शक्ति । व्यापारों=कार्यों । भोग=प्राप्त

करने की इच्छा। क्षेम=जो प्राप्त है उसकी रक्षा की इच्छा। सम्बद्ध= मिलाकर, सम्बन्ध स्थापित करके। बद्ध=बँधा। मुक्त-हृदय=बन्धन से हीन। मुक्तावस्था=स्वतन्त्र दशा, बन्धन रहित। रस दशा=रस-प्राप्ति की अवस्था। भावयोग=भावों का सम्मिलन।

संकुचित मंडल=सीमित क्षेत्र। लीन=लगाना, मिला देना। परिष्कार= मांझना, संस्कार करना। शेष सृष्टि=हमारे से अतिरिक्त सम्पूर्ण संसार। रागात्मक=जिनका सम्बन्ध मन से होता है। निर्वाह=गुजारा, जीवनयापन करना। अनेक-भावात्मक=जिसमें अनेक भाव विद्यमान रहते हैं। व्यायाम= फैलाव। प्रकृत=स्वाभाविक। सामंजस्य=मेल। तादात्म्य=मेल, साक्षात्कार। आदिम=आरम्भ से, आदिकाल से। लुब्ध=लोभी। क्षुब्ध= दुःखी। परिणत करना=बदलना।

चिर सहचर=पक्के साथी, सदा साथ रहने वाले। साहचर्य्य=साथ। वंशानुगत=वंशों के बाद, वंशों तक चला आता हुआ। दीर्घ-परम्परा=लम्बी प्रणाली, पुरानी रीति। सर्वस्व-हरण=सबकुछ छीन लेना।

सभ्यता के आवरण और कविता :—

वृद्धि=उन्नति। बहुरूपी=बहुत प्रकार के। जटिल=कठिन। आच्छन्न =छिप जाना, ढकना। वासनाजन्य=वासना से उत्पन्न। लगाव=सम्बन्ध। सन्तति=सन्तान। प्रभुत्व=अधिकार, आधिपत्य।

कुटिल=दुष्ट, बुरा। सलाह=राय, परामर्श। दस्तावेज=छोटा कागज। आवरण=पर्दा। निवारण=छुटकारा।

कविता और सृष्टि-प्रसार :—

नित्य=सदैव। किनारे करना=अलग करना। पशुवृत्ति=पशुओं जैसा आचरण। लिप्त=लीन। कलरव=शोर। कुरूपता=भद्दापन। विसर्जन= त्याग। आर्त्तनाद=दुःखी आवाज। पसीजा=पिघलना। तिलमिलाना= दुःखी होना। बेढब=बुरा, अजीब। निमग्न=मन लगाना। मरुस्थल= रेगिस्तान, नीरस।

नरक्षेत्र=जिसका सम्बन्ध मनुष्य तक रहा हो। मनुष्येतर=मनुष्य को छोड़कर और किसीसे सम्बन्धित। चराचर=चेतन और अचल अर्थात् सब से सम्बन्धित।

नरत्व=मनुष्यत्व, मनुष्यता। नाना=अनेक। पारस्परिक=आपसी

विधानों=सम्बन्धों। संकलन=इकट्ठा करना। उद्भावना=विचार। मुक्तक=एक विशेष काव्य-विधा जिसमें कथा का तारतम्य नहीं होता। प्रबन्ध=ऐसी काव्य-विधा जिसमें कथा की कड़ियां परस्पर मिली रहती हैं।

महाकाव्य=एक सर्ग-बद्ध पद्य-रचना जिसमें कम से कम आठ सर्ग होते हैं और सभी रसों का समावेश होता है। खण्डकाव्य=ऐसी पद्य रचना जिसमें जीवन की किसी एक घटना का प्रबन्ध रूप में वर्णन होता है। विशद= व्यापक, विस्तृत। लोक-चरित्र=इसी संसार में रहने वालों का वर्णन। उद्दीपन=उद्दीप्त करना, भड़काना। रतिभाव=प्रेम का भाव। भावोद्रेक= भाव को जगाना।

ग्रहण=धारण। बिम्बग्रहण=रूप समझना। अर्थ ग्रहण=अर्थ मात्र को ग्रहण करना। संकेत-ग्रहण=इशारा समझना। अपेक्षित=आवश्यक। सूक्ष्म निरीक्षण=बारीकी के साथ चित्रण करना। आकृति=आकार। परिस्थिति=अवस्था। संश्लिष्ट=मिला हुआ। अनुराग=प्रेम। तरुण धूप=तेज़ धूप। जीर्ण=फटकारा। ध्वस्त=नष्ट।

सुसज्जित=सजी हुई। बेडौल=बेढंगी (Unbalanced)। कर्कश= कठोर। भव्य=विशाल, विस्तृत। विचित्र=अद्भुत। उग्रकराल=बहुत भयंकर रूप में। खास=विशेष। प्रतिष्ठित=स्थापित। प्रफुल्ल=खिल हुए। प्रसून=फूल। सौरभ=सुगन्ध। मकरन्द-लोलुप=रस का लालच करने वाले। मधुप=भौंरे। गुंजार=गूंज, झंकार। कोकिल-कूजित-निकुंज= ऐसे निकुंज जहां सदैव कोयल का शब्द गुंजरित होता रहता है। शीत-सुखस्पर्श-समीर=ऐसी ठंडी वायु जिसके स्पर्श से सुख की प्राप्ति होती है। विषयी=सांसारिक विषय वासनाओं में लीन। भोगलिप्सु=इन्द्रिय सुख की इच्छा वाले। मुक्ताभास=जिसमें मोती जैसी चमक हो। हिम बिन्दु मण्डित ओस की बूंदों से ढके हुए। मरकताभ-शादूल-जाल नील मणि जैसी हरी-हरी घास। विशाल=विस्तृत। गिरि शिखर=पर्वत की चोटी। जल प्रपात=पानी का गिरना। गम्भीर गर्त्त=गहरा गड्ढा। सीकर=बूँदें। नीहारिका=कुहासा। विविधवर्ण=तरह-तरह के रंग। स्फुरण=फूटना। तमाशबीन=तमाशा देखने वाले। रमाने वाले=आकर्षित करने वाले। प्रशान्त=अचल, महान्, गम्भीर।

साहचर्य-सम्भूत=साथ रहने के कारण उत्पन्न होने वाला। सिक्त=

भीगा हुआ। तुरन्त=उसी क्षण। ग्रामवनिताएं=गांव की स्त्रियां। ग्राम चैत्य=चौपाल। कथा-कोविद=पुरानी कहानियों के जानने वाले। ग्राम-वृद्धों=गांव के बूढ़े लोग। पेड़=वृक्ष। स्मृति=याद। नीलाभ=नीले रंग के।

बंशपरम्परागत=वंशों की परम्परा से प्रचलित। वन्य=वन। व्यतीत=गुजरना, बीतना। चेरी=दासी, नौकरानी। वासुदेवजी=सर्प।

विलास=आराम की वस्तुएं। सामग्री=समान। अन्तर्भूत=समाए हुए, रमे हुए। अद्वैत=एकता। समन्वय=मेल। साधना=प्रयास, यत्न।

सात्त्विक तथ्यः—व्यंजना=प्रकट। हर्ष=प्रसन्नता। विषाद=दुःख। तोष=सन्तोष, तुष्टि। क्षोभ=दुःख। आकृति=आधार। प्रत्यक्ष=साफ। अलबत=प्रायः। छेकना=अलग करना। निष्ठुर=कठोर। हक=अधिकार, भाग। प्रतीति=जानकारी।

गूढ़=गम्भीर। उल्लास=आनन्द। आतप=ताप, गर्मी। शिथिलता=ढीलापन। म्लानता=कुम्हलाना। मधुकाल=वसन्त ऋतु। रसोन्माद=रस से मदमस्त। उमंग=इच्छा। हास=हंसी। प्रबल=तेज। वात=वायु। विकलता=व्याकुलता। ललक=इच्छा। समक्ष=सम्मुख। अन्योक्तिकारों=अन्योक्ति अलंकार विशेष का प्रयोग करने वाले। तथ्य-चयन=सच्चाई को चुनना। सम्बोधन=बुलाने के लिये विशेष शब्द।

सजीव=चेतन। विच्छिन्न=अलग। अनुशीलन=अध्ययन करने वाले। बद्ध=बँधी, सीमित। भीषणता=भयंकरता। कड़कड़ाती=तेज। श्याम-लता=श्याम रंग। स्निग्धता=पवित्रता। अविराम=लगातार, बिना रोक के। द्रवीभूत=पिघला हुआ। औदार्य=उदारता। वात-विलोड़ित=हवा से झूलता हुआ। विकीर्ण=छिटके हुए। रश्मि=किरणें। सांध्य-दिगांचल=संध्या काल का आकाश। चमत्कारपूर्ण=विचित्र, अजीब। अन्धड़=आंधी। स्फोट=फटना। द्रष्टा=देखने वाले।

उद्घाटन=अभिव्यक्ति, वर्णन। सम्पन्नता=पूर्णता। स्तुति=प्रशंसा। खास=विशेष। कोलाहल=शोर। विपत्ति=दुःख, आपत्ति, कष्ट, मुसीबत। दुर्दिन=बुरे दिन। सरोवर=तालाब। कलरव=शोर।

मर्यादा=सीमा। उच्छृंखलता=आजादी, भौंडापन। ध्वंस=नाश। अल्पकालिक=थोड़ी देर के लिये। संचय=संकलन, इकट्ठा करना। अबाध—

स्वतन्त्रतापूर्वक । क्षीण=पतला, दुर्बल ।

प्रसार=विस्तार । विस्तीर्ण=प्रसार, फैलाव । व्यापक=विस्तृत। अनन्त=असीम । पार्थक्य=अलग रहना । परिहार=निवारण, छुटकारा।

रसात्मक=सुखदायक, आनन्ददायक । तथ्य=वास्तविकता । रंचार=रमन । ज्ञान-प्रसार=ज्ञान का विस्तार । इन्द्रियज ज्ञान=ऐसे ज्ञान जिसे हम इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं । समष्टि=सम्मिलित रूप । अनुसन्धान=खोज, गवेषणा । मर्मस्पर्शी=मन को छूने वाला । प्रत्यक्षीकरण=साफ, वास्तविकता । आलम्बन=आधार । तह=गूढ़ता, गहराई ।

काव्य और व्यवहार: प्रवृत्त=लगे हुए, लीन । अनुष्ठान=विधान । निरपराध=निर्दोष । सर्वनाश=सब कुछ नष्ट करना । दुर्बलताओं=कमजोरियों, अभावों । निर्लिप्त=अलग । उत्कंठा=इच्छा । विद्वेष=वैर ।

लाभदायक=जिससे लाभ हो । आह्लाद=आनन्द । विवेक=बुद्धि । उत्तेजना=भावावेश । कर्म-प्रवृत्त=कार्य में संलग्न । दारिद्र=गरीबी । अकाल=कहत । भीषण=भयंकर । आर्तक्रन्दन=दु:खपूर्ण आवाज । संकल्प=इरादा । अनुशीलन=अध्ययन ।

स्वार्थबद्ध=स्वार्थ में सीमित । आत्मगौरव=अपने पर नाज । विरत=अलग । अर्थागम=धन प्राप्ति । अनुयायी=मानने वाले । अर्थपरायण=धन से वास्ता रखने वाले, मतलबी । त्रुटि=कमी, अभाव ।

मनुष्यता की उच्च भूमि: कर्म कलाप=कर्मों का ढेर । निरूपित=दिखाया जा चुका है । सताने वाले=दु:ख देने वाले । क्रमश:=धीरे-धीरे । प्राणिमात्र=सब जीव जन्तु । वेदना=दु:ख, कष्ट, तकलीफ । नेत्र सजल होना=अश्रु भर आना । मुग्ध=आकर्षित, लट्टू । व्याप्त=छाना ।

प्रसाद=कृपा । मनुष्यता की उच्च भूमि=नरत्व, मनुष्यता । अर्थ-पिशाच=धन के लालची । कृपण=कंजूस । वशीभूत=वश में होकर । रूप-माधुर्य=सुन्दर रूप । अपमानसूचक=अनादर को बतलाने वाला । क्षुब्ध=दु:खी । लोमहर्षक=रोंगटे खड़े कर देने वाली ।

प्रकृत=स्वाभाविक, प्राकृतिक । प्रसार=विस्तार । भावयोग=भाव के मेल से । कक्षा=श्रेणी । तादात्म्य=एकीकरण, सामीप्य । अश्रुधारा=आंसुओं की धारा । हास-विलास=खुशी, आनन्द । गर्जन-तर्जन=गुस्सा । आभास=पता ।

भावना या कल्पना — काव्यानुशील = कविता का अध्ययन । समकक्ष = बराबर । उपासना = विनती, ध्यान । प्रवर्तन = संचालन । परिचालित = चलना । ब्यौरा = विवरण । श्रोता = सुनने वाला ।

विधायक = विधान करने वाली । ग्राहक = ग्रहण करने वाली, धारण करने वाली । अभिप्राय = आशय, मतलब । साहित्य-मीमांसा = साहित्यालोचन । अनिवार्य = आवश्यक । उपयुक्त = उचित । क्षमता = शक्ति, योग्यता ।

मनोरंजन: मनोरंजन = मन बहलाना । लक्ष्य = उद्देश्य । सामंजस्यस्थापन = मेल कराना । पथिक = राही, मुसाफिर । उपरान्त = बाद में । चित्तवृत्ति = मन का भाव । अपकारी = बुराई ।

समीक्षकों = आलोचकों । चरम लक्ष्य = सबसे बड़ा उद्देश्य । गंतव्यस्थल = जानने योग्य स्थान । आख्यान = छोटी-छोटी कहानियाँ । वैचित्र्यपूर्ण = विचित्रता के साथ ।

अनरंजित करना = मन बहलाना । श्रम = मेहनत । खेद = दुख । कामवासना = भोग की इच्छा । मकरध्वज रस = उत्तेजित करने वाला एक आयुर्वेदिक रस विशेष ।

ग्रीष्मोपचार = गर्मी दूर करने की युक्ति ।

सौन्दर्य—कला-समीक्षा = कलाओं की आलोचना । दूर की कौड़ी = खींचतान । परिणत = वदलना । अन्तस्सत्ता = आन्तरिक शक्ति । तदाकार = उसी प्रकार । विपरीत = उल्टा । आपत्ति = कष्ट । प्रत्यक्ष = प्रकट । विवेचन = अध्ययन । व्यर्थ = फिजूल ।

खिलता = फूलता । मुरझाना = कुम्हलाना । गतिमय = चलने वाला । संघात = समूह । प्रयोजन = आशय, तात्पर्य, वास्ता । बोध = ज्ञान ।

तिरोभाव = मिल जाना, अपनी सत्ता को मिटा देना । रूपरेखा = रूप, आकृति । वर्णविन्यास = रंगों की सजावट । एकवारगी = बिल्कुल, शत-प्रतिशत । प्रत्युत् = बल्कि । पल्लव-गुम्फित = पत्तों से ढके हुए । पुष्पहास = फूलों की हंसी अर्थात् उनका खिलना । पक्षजाल = पर । सिन्दूराभ सान्ध्य दिगंचल = सिन्दूरी रंग वाला संध्या का आकाश । हिरण्य = सुनहरे रंग वाला । मेखला = करधनी । मण्डित = सजा हुआ । घन-खण्ड = बादल का टुकड़ा । तुषारावृत्त = ओस की बूंदों से युक्त । तुंग = ऊँच । गिरि-शिखर = पहाड़ की चोटी । चंद्र-

किरण=चांद की किरणें। निर्भर=झरने, नाले।

मग्न=लीन। प्रतीति=बिश्वास। विसर्जन=जान भूलना। दिव्य=व्यापक। विभूति=सत्ता, महान् आत्मा। अवलम्बन=सहारा। सगुणोपासक=सगुण ईश्वर की उपासना करने वाले, मूर्तिपूजक। मंगल दशा=कल्याण की ओर। कैवल्य=मुक्ति।

दृश्य=नजारा। विकसित कमल=खिला हुआ फूल। प्रेमोत्कर्ष=प्रेम का बढ़ना। शव=मुर्दा, लाश। शृगाल=गीदड़। बीभत्स=भद्दा, बुरा। क्रूर=अत्याचारी, जालिम। हिंसावृत्ति=मार-पीट का भाव। अवस्थान=स्थापना दशवदन-निधनकारी=दशमुख वाले रावण को मारने वाले, राम।

रमणी=स्त्री। तृप्त=सन्तुष्ट। अंग-प्रत्यंग=प्रत्येक अंग। सुषमा=शोभा, सुन्दरता। अंकित किया=लिखा। अन्तस्=मन। अपूर्व=अद्वितीय। सात्विकी ज्योति=बहुत उत्कृष्ट भाव। चमत्कृत=आकर्षित। स्निग्ध=पवित्र। आभा=चमक, सौन्दर्य। सत्यप्रियता=सत्य में विश्वास रखने वाला। सर्वांगपूर्ण=सभी प्रकार से पूर्ण।

धर्मज्ञ=धर्म में विश्वास रखने वाला। परलोक=दूसरा संसार। भव-बन्धन=सांसारिक बन्धन। मोक्ष=मुक्ति। विकरालता=विषमता, भयंकरता। रम्य=सुन्दर।

चमत्कारवाद—सामग्री=सामान, साधन। प्रस्तुत=विद्यमान, सम्मुख। अदकभुतत्त्व=वैचित्र्य, अदभुतता। वैलक्षण्य=अनोखापन, बिचित्रता। वर्ण-विन्यास=वर्णों की सजावट। शब्दों की क्रीड़ा=शब्दों में प्रयोग का चमत्कार बा खेल। वक्रता=टेढ़ापन, बात को घुमा-फिराकर कहना। वचनभंगी=बात को तोड़-फोड़कर कहना। अप्रस्तुत=जो सामने हो, उपमान। सादृश्य=समानता। अनहोनी=अनुचित, असम्भव। दूरारूढ़=दूरी पर स्थित।

आसामान्य=असाधारण। मूर्ख=बेवकूफ। उक्तिवैचित्र्य=अभिव्यक्ति की विचित्रता, विचित्र ढंग से बात कहना। मर्मस्पर्शी=मन का स्पर्श करने वाली। उक्तिवैचित्र्य-शून्य=अभिव्यवित की विचित्रता के बिना।

विदिग्धता=विचित्रता, अनोखापन। अपेक्षा=आवश्यकता। आतुर=उतावला, व्याकुल। बितर्क=अनुभव। व्यंजना=प्रकट।

अवतरण=उदाहरणा (Reference)। मार्मिक अन्तर्वृत्ति=गम्भीर विचार। कुतूहल=मनबहलाव। बालवृत्ति=बच्चों का भाव। प्रयोजन=

आशय, मतलब ।

अद्भुत=विचित्र, अनोखा । लोकोत्तर=इस संसार से परे । दूर की सूझ =कोरी कल्पना । निपुणता=दक्षता, योग्यता । सूक्ति=सुन्दर उक्ति । तथ्य=वास्तविकता । अनूठेपन=विचित्रता, अद्वितीय ।

पंचभूत=पांच (पृथ्वी, तेज, जल, वायु और आकाश) प्रकार के तत्त्व जिससे मनुष्य शरीर बना है । दीर्घ निःश्वास—लंबे-लंबे साँस लेना । दीप्ति= चमक, तेज । कान्ति=चमक, दीप्ति । पार्थिव तत्त्व=संसारी तत्त्व । क्षीण =दुर्बल । हरण=चुराना ।

सटीक=विस्तारपूर्वक । उद्भावना=प्रकट, व्यंजना । अस्तित्व=सत्ता । चरितार्थ=चित्रित । सावयव=सब अंगों सहित । मजमून=विषय । बन्दिश =सीमा । अदृश्य=लुप्त । गुम्फित—ढका हुआ ।

स्फुरण=फूटना । अचरज=आश्चर्य । अन्तरंग सखी—पक्की सहेली । किंचित्=तनिक । अवसर=मौका ।

भावानुमोदित=भावों से समर्पित । सालंकृत=अलंकारों से युक्त, अलंकारों सहित । लक्षण=शब्द शक्तियों में से एक शक्ति । चपलता=चातुरी । प्रगल्भता=ढिठाई । व्यंजक वाक्य=ऐसा वाक्य जिसमें व्यंजना शक्ति निहित हो ।

कविता की भाषा :—चित्र रूप=बिम्ब रूप में (Image) । गोचर= जो देखा जा सके ।

जाति-संकेत वाले=जिन से जाति का पता चले । अर्थ-ग्रहण=अर्थ धारण करना । तत्त्व-निरूपण=नियमों का निरूपण । उपयोगी=लाभदायक । पारिभाषिक=व्याख्या करने वाले ।

मूर्त्त-रूप=स्पष्ट रूप । आयोजन=प्रबन्ध । निरपराध—निर्दोष । वध =मारना । भीषण=भयंकर । यन्त्रण=दुःख । निष्ठुर=कठोर । प्रहार= चोट । क्षोभकारी=दुःख देने वाले ।

अज्ञानदशा=गलत मार्ग । आयु भर=सारी उम्र । क्लेश-निवारण= दुःख से छुटकारा पाना ।

वर्ण-विन्यास=अक्षरों की सजावट । प्रसिद्ध=मशहूर । अनुसरण= पीछे चलना । नाद सौष्ठव=उच्चारण की सुन्दरता । श्रुति-कटु=जो सुनने में कटु लगें, कठोर । वृत्त विधान=छन्द विधान । अन्त्यानुप्रास=अनुप्रास

नामक अलंकार का एक भेद जिससे अन्तिम शब्द की तुक मिलती है। निमित्त =के लिए। विशिष्टता=विशेषता। निरन्तर आवृत्ति=लगातार आना।

ताल-पत्र=ताल नाम वृक्ष का पत्ता। भोजपत्र=ऐसा पत्ता जिस पर प्राचीन काल में पुस्तकें लिखी गईं। फालतू=व्यर्थ।

कार्य बोधक=कर्म के सूचक। गुरुतर=बहुत भारी। कृत्रिमता=बनावटी। परिपोषकता=समर्थन। अर्थगर्भित=अर्थ का निहित रहना जिसमें अर्थ छिपा रहे। निर्माण=बनाना। गिरिधर=पर्वत को धारण करने वाला, कृष्ण मुरारि=मुर नामक राक्षस को मारने वाला। त्रिपुरारि=त्रिपुर का वध करने वाले। दीनबन्धु=दुःखियों के मित्र। चक्रपाणि=जिसके हाथ में चक्रायुध हैं। सव्यसाची=अर्जुन।

अलंकार :—उत्कर्ष=उच्चता। पूर्णता। तीव्र=तेज, चटकीला। अलंकार=जेवर, सजाने वाला, कहने का ढंग। साध्य=लक्ष्य, उद्देश्य। विकृत= भयानक।

दीप्ति=चमक, आभा। सादृश्य=बराबरी, एकता, समानता। साधर्म्य= एक जैसा धर्म या लक्षण। प्रकृत=स्वाभाविक। अंग-वर्णन=अंगों का वर्णन। प्रतिष्ठित=स्थापना। कटि=कमर। सूर्य बिम्ब=सूर्य का गोला। शोणित-कलित=खून से भरे। किलकापालिक=निश्चय जान कर।

वर्ण्य-वस्तु=जिसका वर्णन हो रहा हो। वर्णन-प्रणाली=वर्णन करने का ढंग। निर्णय=फैसला। स्मारक=स्मरण करने वाला, याददाश्त। निर्देश = बताना। परिमित=सीमित।

रमणीयता=सुन्दरता। शब्दसाम्य=समान शब्द, एक ही प्रकार के शब्द। काव्य-शोभाकर=कविता की शोभा बढ़ाने वाला। प्रयुक्त=योग करना। असंपृक्त=अलग।

कविता पर अत्याचार :–खुशामदियों=झूठी प्रशंसा करने वाले चापलूस। स्तुति=प्रशंसा। द्रव्य=धन, पैसा। निराधार=बिना आधार के। विस्तृत=व्यापक। पुनीत=पवित्र। स्वान्तः सुखाय=अपने सुख के लिए।

कविता की आवश्यकता :—प्रयोजनीय=उपयोगी, लाभदायक। असभ्य =मूर्ख। सघन=घना, घनिष्ठ। जटिल=कठिन। सृष्टि=संसार। जरूरत=आवश्यकता।

पृष्ठ. १४१ "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था·········रस-दशा कहलाती है।"

जब मनुष्य सांसारिक मोह-माया से नाता तोड़कर मुक्ति को प्राप्त होता है तो उसे ज्ञानदशा कहा जाता है। इसी प्रकार काव्य में जब व्यक्ति राग-द्वेष की संकीर्णता से ऊपर उठ कर उससे मुक्त हो जाता है तो वह आनन्द अवस्था को प्राप्त होता है। काव्य ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य रसदशा या आनन्द को प्राप्त करता है।

पृष्ठ १४५. "काव्य में अर्थ-ग्रहण······बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है।"

कविता में केवल नाम मात्र बता देना पर्याप्त नहीं होता। उसके साथ-साथ अमूर्त रूप को स्पष्ट करने के लिये चित्र उपस्थित करना आवश्यक होता है। जब चित्र उपस्थित नहीं किया जायगा काव्य के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता।

पृष्ठ १५१. "अतः बुद्धि की क्रिया से······समन्वय हो जाता है।"

जिस प्रकार बुद्धि के बल से आत्मा-परमात्मा की अद्वैतता का ज्ञान प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमारे मन की सहृदयता भी हमें मानसिक भूमि तक पहुँचाने का कार्य करती है। इस प्रकार बुद्धि और हृदय का सुन्दर समन्वय होता है जिसमें मनुष्यता की साधना पूर्णरूप को प्राप्त होती है।

पृष्ठ १५५. "लोक जीवन की धारा·········प्रतिष्ठा होती है।"

वस्तुतः शान्ति की प्राप्ति के लिये और सबके सुख की कामना करने के लिये यह आवश्यक है कि हमें कुछ नियमों की स्थापना करनी चाहिये। नियमों के निश्चित होने के उपरान्त हमारा यह मुख्य कर्त्तव्य हो जाता है कि उसका पालन इस ढंग से करें कि हमारी गम्भीरता को चोट न लगे। उसमें किसी प्रकार का उल्लंघन नहीं होना चाहिए और विधिपूर्वक उन नियमों का पालन करने से सुख की उपलब्धि स्वतः हो जाती है।

पृष्ठ १५६. "अतः यह कहा जा सकता है·········भाव प्रसार होता है।"

हम यह कह सकते हैं कि ज्ञान या बुद्धि से ही कल्पना में उत्कर्ष आता है और ज्ञान के सहयोग से ही हमारी भावुकता में व्यापकता का संचार होता है।

पृष्ठ १५८. "शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती।"

केवल ज्ञान या बुद्धि के द्वारा कार्य करने का भाव उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञान के साथ-साथ काव्य का होना अत्यावश्यक है। कविता से भाव को तीव्रता प्राप्त होती है और मनुष्य कर्म करने में शीघ्र ही प्रवृत्त हो जाता है।

पृष्ठ १६२. "किसी प्रसंग के अन्तर्गत ···· अन्तर्गत न होगा।"

निस्संदेह कोई कवि या लेखक कितने ही सुन्दर ढंग से विचित्र रूपों का वर्णन क्यों न करे पर जब तक उस वर्णन में भाव-ग्राह्यता का अभाव है वह वर्णन काव्य की श्रेणी में नहीं आ सकता। इसलिए भूति-विधान के साथ-साथ भावुकता का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

पृष्ठ १६५. "हमारी अन्तस्सत्ता ···· सौन्दर्य की अनुभूति है।"

जब हमारा हृदय किसी प्रभावित करने वाली वस्तु की ओर आकृष्ट होकर मग्न हो जाता है और जितना ही उसके अनुरूप होता जाता है उतना ही अधिक हमें उसकी सुन्दरता की अनुभूति होगी।

पृष्ठ. १७१ "जो उचित हृदय में ···· वह तो है काव्य।"

ऐसा वर्णन जिसके द्वारा मन में कोई भाव उत्पन्न हो, या जिस वस्तु का वर्णन हो रहा है उसमें जो उक्ति हमारे मन को लगा दे वही कविता की संज्ञा को प्राप्त होता है। इसलिये काव्य का यह कार्य है कि वह मर्म को स्पर्श करता हुआ मन में किसी भाव को उत्पन्न कर देता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

शब्दार्थ -सूत्रपात =आरम्भ, श्रीगणेश। वर्तमान=विद्यमान। प्रतिष्ठित =स्थापित। अखंड =अटूट, अटल। परिवर्तन=बदला। सुव्यवस्थित= भली प्रकार से प्रबन्धित। परिमार्जित =परिष्कृत, मंजा हुआ, संस्कृत। स्थिर =स्थायी। प्रतिष्ठापक =स्थापित करने वाला। प्रवर्तक=चलाने वाले।

मैदान =क्षेत्र में। खींच-तान =संघर्ष। स्वरूप =रूप। स्थिरता =दृढ़ता, स्थायित्व। प्रस्ताव काल =आरम्भ काल। समय-प्रवर्तक काल =चलाने का समय। उदय =उत्पन्न।

खटकने वाली =बुरी लगने वाली। उर्दूपन=उर्दू की ओर झुकाव। विशुद्धता =शुद्धरूप। आदर्श =नमूना। व्यावहारिक =व्यवहार की लेनदेन की भाषा। उपयुक्त =उचित, ठीक। जबान =जिह्वा। संचित=एकत्रित।

त्रुटियों =कमियों, कमजोरियों, दुर्बलताओं। सुगम =सरल। संस्कार= सुधार, परिमार्जन। परिष्कृत मंजी हुई, सुधरी हुई। सुबोध=सुविधा-

पूर्वक समझ जाना । प्रमाण=उदाहरण, गवाह । वाक्य-विन्यास=वाक्यो सजावट । संयोजक=मिलने वाले । अवयवों=अंगों । विराम=आराम, काम परख=पहचानना ।

रूप प्रतिष्ठा=काव्य के स्वरूप की स्थापना । प्रवर्त्तक=चलने वाले । अभिरुचि=रुचि (Interest) शिक्षित=पढ़े-लिखे । चिन्ताओं=विचारों ।

विचित्र=अजीब । लगाव=रुचि । प्रेरणा=उत्साह । स्फूर्ति=तेजी, तीव्रता । परिमित=सीमित; संकीर्ण । सन्निविष्ट=स्थान देना । सामंजस्य=मेल । पटु साहसी=चतुर उत्साही । प्रतिभा सम्पन्न=बुद्धि से युक्त । कौशल=क्षमता; योग्यता । विच्छेद=अलग करना ।

सिद्ध-वाणी=जिनकी वाणी पर पूर्ण अधिकार हो । सरस-हृदय=सहृदय । स्वदेश प्रेम=अपने देश से प्रेम । मंगल=कल्याण । मन्त्र फूँकना=प्रचार करना (To Preach) । सर्वतोमुखी=अनेक विषयों से सम्बन्धित । श्रेणी=कोटि । माधुर्य=सरसता, सुन्दरता । प्रदर्शित करना=दिखाना । संधि काल=मेल, एक ही समय में दो वस्तुओं का उलन । मृदुल=मधुर । अपेक्षित=आवश्यक ।

अतीत=गुजरी हुई; प्राचीन । गौरव-गाथा=गौरव की कहानी । अधोगति=गिरावट, नीचे जाना । क्षोभ-भरी=दुःख से पूर्ण । वेदना=कष्ट, पीड़ा । पुनीत=पवित्र । देश-प्रेम-व्यंजक=देश से प्रेम को प्रकट करना । उद्गार=व्यंजना, प्रकट ।

परम्परानुसार=प्रवाहित धारा के अनुसार । मानवी=मनुष्य की । वृत्तियों=भावों, विचारों । सृष्टि=संसार । प्रपंचावरण=अपने कार्य क्षेत्र के भीतर । विस्तृत=व्यापक । प्रयास=प्रयत्न । उत्थान=उन्नति । सीमित=संकीर्ण ।

आदि कवि=प्रथम कवि । मन्द=धीमी । तन्मयता=लगन । निरीक्षण=देखा, गम्भीरतापूर्वक विवेचन करना । उपर्युक्त=ऊपर दिए हुए । सूक्ष्मता=बारीकी । कविकुलगुरु=कवियों के गुरु, वाल्मीकि । अनूठी=अद्वितीय ।

याचक=प्रार्थी, याचना करने वाला । स्वच्छन्द=स्वतन्त्र, जो छन्दों के बन्धन में नहीं पड़ते । शृंगारी=शृंगार रस पर कविता करने वाले । सुर्ख=लाल । प्रमत्त=मदहोश, पागल । किनारे=अलग ।

बीभत्स=भद्दा। घिनौने=नफरत वाले, घृणित। उत्कर्ष=उच्चता। स्वच्छ=पवित्र।

तुलसी का भक्ति मार्ग

शब्दार्थ—परिपाक=पूर्णता। अन्यत्र=दूसरी जगह, और कहीं। दैन्य=दीनता। निर्मल=स्वच्छ। स्रोत=धारा, झरना। अवगाहन=गोता लगाना। प्रफुल्लता=प्रसन्नता। शील=सदाचार। शक्ति=बल। सौंदर्य=सुन्दर रूप। अग्रसर=आगे बढ़ना। ज्योति=प्रकाश। दिव्य=व्यापक, सुन्दर। स्तुति=प्रशंसा। आर्द्र=आकुल, व्याकुल। तमतमाना=लाल होना।

प्राचीन=पुरातन, पुराना। एकदेशीय=स्थानीय (Local)। एकांगदर्शी=एक अंग को देखने वाला, जिसका ध्यान प्रेम के या भक्ति के एक पक्ष पर निहित हो। उपभोग=प्रयोग। विशाल=बड़ी-बड़ी। रणक्षेत्र=लड़ाई का मैदान। दमक **दबाना**, नाश करना। अध्यवसाय=परिश्रम। वृद्धि=उन्नति। उदासीन **अलग**, तटस्थ। चरम अभिव्यक्ति=पूर्ण रूप से प्रकट। समन्वित=मिलकर। उद्दण्डता=उल्लंघन। धूर्तता=मूर्खता, दुष्टता

मनोहर मूर्ति=आकर्षित करने वाला रूप। सृष्टि=रचना। ब्रह्मज्ञान=ईश्वर का ज्ञान। रूखे=नीरस। अनन्य=पूर्ण, बहुत। लोकव्यवहार=साँसारिकता। मंगल ज्योति=कल्याण का प्रकाश। मुग्ध=आकर्षित। व्यवसाय=धंधा। वाक्य-ज्ञान=केवल सूचना देना।

लोकरंजनकारी=संसार को बहलाने या खुश करने वाला रूप। आलम्बन=आधार। भावसंघात=भावों का समूह। प्रत्यक्षीकरण=प्रकट करना। गद्गद=प्रसन्न। पुलकित होना=प्रसन्नता के कारण स्तम्भ का होना।

साक्षात्कार=प्रत्यक्षीकरण, सामीप्य अनुभव। अनन्त=जिसका अन्त न हो। प्रमोद-पूर्ण=विनोद साहित, प्रसन्नतापूर्ण। परिचालन=चलाना। विद्यमान=मौजूद, वर्तमान। रूप लावण्य=शरीर की सुन्दरता। प्रतिष्ठित=स्थापित। अपूर्व, अद्भुत=विचित्र। मनोहरता=सुन्दरता, आकर्षण। झलक=प्रकाश। अभिलाषा=कामना, इच्छा। द्रष्टा=देखने वाला।

भव्य—सुन्दर। मनुष्य ग्राह्य=जिसे मनुष्य की बुद्धि जान सके। भव-विह्वल=जगत से दुःखी। भाव-तरंगें=विचारों के समूह। आत्मग्लानि=

अपने मन में अपनी त्रुटियों पर विचार करने से जो दुःख होता है। अनुताप =पछतावा। आत्मनिवेदन=अपने मन में दुःखों को व्यक्त करना। आभा= ज्योति, चमक। लघुत्व=तुच्छता। लय=समा जाना, समाप्त हो जाना।

महत्त्व-वर्णन=बड़प्पन का विवरण। असामर्थ्य=दुर्बलता, अक्षमता। परिणाम=मात्रा। सन्तोष=शान्ति। दम्भ=घमण्ड। छल=धोखा। बाधक =रोकने वाला, अड़चन डालने वाला।

सान्निध्य=सामीप्य। लीन=मिल जाना। आन्दोलन=तीव्र भाव की उत्पत्ति। रूपराशि=सुन्दरता की खान।

सर्वगत=सबमें व्याप्त। समस्त=सम्पूर्ण। अपरिछिन्न=मुक्त। युक्ति= तर्क, बुद्धि से किसी बात का खण्डन करते हुए अपना तर्क उपस्थित करना। आत्मत्याग=स्वार्थ का त्याग। उज्ज्वल=सुन्दर, चमकीला। दृष्टान्त=उदाहरण। निस्संग=कोई संबंध न रखना।

पृष्ठ २०३. **"महत्व का जितना ही सान्निध्य······महत्व की आभा चढ़ती जायगी।"**

जितनी अधिक एक भक्त के मन में अपने इष्टदेव के गुणों की गहरी अनुभूति होती जायगी उतना ही अधिक उसमें दैन्य, आत्मग्लानि, नम्रता इत्यादि का भी अनुभव हो जायगा। उपास्यदेव के गुणों से वह पूर्णतः प्रभावित होता जायगा।

पृष्ठ २०३. **"सारांश यह कि भक्ति का मूल तत्व है महत्व की अनुभूति।"**

कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति में अपने इष्टदेव के महत्त्व को स्वीकार करना अतीव आवश्यक है। जब तक उपास्य के महत्त्व की अनुभूति नहीं होती तब तक भक्ति-भाव का उदय नहीं होता। इसीलिए भक्ति के लिए महत्त्व की अनुभूति को मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

मानस की धर्म-भूमि

शब्दार्थ :—रसात्मक=सरस, रसपूर्ण। सत्यस्वरूप=सच्चा रूप। असीमता=अनन्तता, जिसकी सीमा न हो। अखिल विश्व=समस्त संसार। परिचालन=चलाना। समष्टिरूप=एकत्र-रूप में। शाश्वत=सदैव रहने वाला, सत्य, अमर। भगवत्स्वरूप=ईश्वर उन्मुख। उपास्य=इष्टदेव। आविर्भाव =आगमन, अवतरण। सामीप्य=निकट।

लक्षित=इंगित। परिमित=सीमित। विस्तृत=व्यापक। जनसमूह=व्यक्तियों का इकट्ठा। कोटि=श्रेणी, वर्ग। उच्चता=उत्कर्ष। गृहधर्म=घर की निश्चित मर्यादा। कुल धर्म=वंश के सिद्धांत विशेष। समाजधर्म=समाज द्वारा निश्चित सिद्धान्त। विश्वधर्म=संसार के मंगल के लिए नियुक्त सिद्धांत। अंगी=पूर्ण। अंग=अंश, भाग। पूर्ण पुरुष=ईश्वर। अनुरूप=अनुसार, अनुकूल। वर्ण धर्म=किसी एक सम्प्रदाय का धर्म। कीट-पतंग=कीड़े-मकौड़े।

अभिव्यक्ति=प्रकट करना। लीला क्षेत्र=खेल का स्थान। विविध=भिन्न, नाना प्रकार। स्थिति-विधायिनी=सत्ता का विधान करने वाली। रमा कर=मन लगाकर। दिव्य ज्योति=सुन्दर आभा। स्फुरण=प्रकट, फूटना। तिरोहित=छिपाना, नाश। आच्छादित=छा जाना, छिप जाना। पुलकित=प्रसन्न, रोमांच हो जाना।

अभ्युदय=उन्नति, उत्थान। निःश्रेयस=मुक्ति, मोक्ष। सिद्धि=प्राप्ति। समन्वय=मेल। सर्वथा=बिलकुल। अंगरूप=अंश मानकर। परिमाण=मात्रा, संख्या।

लोकपावन=संसार में पवित्र। दिव्य=सुन्दर। दीप्ति=चमक। सर्वोत्कृष्ट=सबसे ऊँचा। उल्लंघन=तोड़ना। लक्ष्य की व्यापकता=उद्देश्य का विस्तृत होना। तिरस्कार=लापरवाही। रोष=क्रोध। आविर्भाव=उत्पन्न। स्वाभाविक=प्रकृति। प्रिय=प्यारा।

दुष्परिणाम=बुरा नतीजा। शोकमग्न=शोक में डूबी हुई। प्राणत्याग=शरीर छोड़ना, मृत्यु होना। विरक्त=जिन्होंने संसार छोड़ दिया हो। कटु=कड़वा, बुरा। पी जाना=सहन करना। क्षुब्ध=दुःखी। अमर्ष=क्रोध नामक भाव का संचारी भाव। आघात=चोट। श्रोता=सुनने वाला।

धिग्दण्ड=डांट-फटकार। तुष्ट=शान्त, सन्तुष्ट। उपयुक्त=योग्य, उचित। अनर्थ=न करने योग्य। धिक्कारना=निरादर करना।

अवहेलना=परवाह न करना, निरादर करना। मार्मिक=गहरे। परिमित=सीमित। मर्यादा=सीमा। उल्लंघन=तोड़ना। असंगत=अनुचित। क्षोभ=दुःख। अबाध=लगातार।

संकुचित=संकीर्ण। भ्रातृद्रोही=भाई से विरोध करने वाला। भगवद्-भक्त=भगवान् का भक्त। प्रदान=देना। लोकपीड़क=लोगों को कष्ट

देने वाला। अनुयायी=पीछे चलने वाले। अकारण=बिना कारण के। वध=मारना। लोकरक्षक=संसार की रक्षा करने वाला।

सीताहरण=सीता का चुराना। पराकाष्ठा=अन्तिम सीमा। सवाल=प्रश्न। बद्ध=बंधा हुआ। विधायक=चलाने वाला।

पृष्ठ २०८. "ब्रह्म के सत्स्वरूप···भक्त-पद्धति चली है।"

तुलसीदास जी भक्त को आधार पूर्ण पुरुषोत्तम के सच्चे रूप का है। भक्ति संबंधी उनके सभी सिद्धांत भगवान् के सद्गुणों को लिए हुए हैं। इसी कारण उसमें लोकरक्षा का भाव सर्वत्र विद्यमान है।

काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था

शब्दार्थ आत्मबोध=योग कर्म द्वारा अपना ज्ञान। जगद्बोध=संसार का ज्ञान। गहरी खाई खोदी=बहुत अन्तर बनाया। भावना=कल्पना। दृष्य जगत=गोचर संसार। प्रतिष्ठा=स्थापना। बादशाहत=राज्य। अनुगामी=अनुयायी। प्रतिरूप=वैसा ही रूप। निवेदन=विनती।

साधनावस्था=आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने वाली अवस्था। सिद्धावस्था=आनन्द का केवल उपभोग करना जिसके लिए कोई प्रयास न किया जाये अपितु दूसरों के प्रयत्न से आनन्द का उपभोग करना। आविर्भाव=आगमन, उत्पन्न होना। तिरोभाव=छिप जाना। सर्वत्र=हर स्थान पर। आतंक=पीड़ा देना, तंग करना। बनस्थली=बन। खिन्नता=दुःख। हीनता=तुच्छता, लघुत्व। अरुण=लाल। प्रचुरता=अधिकता। भीषण=भयानक। परिणत=बदलना।

माधुर्य=मृदुल। सुषमा=सुन्दरता। उल्लास=प्रसन्नता, उत्साह। बांधा=बन्धन। दमन=भावना। तत्पर=तैयार। गतिविधि=चाल, ढाल। रमणीयता=सुन्दरता। भूषण=गहना, जेवर। सिद्धस्वरूप=प्रताप रूप।

लोक-प्रवृत्ति=संसार की रुचि। परिचलित=चलना। अपेक्षित—आवश्यक। स्थायी=स्थिर, दृढ़। व्यंजित=प्रकट किए हुए। सहानुभूति=हमदर्दी। साधारणीकरण=किसी भाव विशेष को सरल साधारण बना देने की क्रिया। विधायक=चलाने वाला। संकुचित=संकीर्ण, सीमित। निरूपण=विवेचना।

आनन्द की साधनावस्था—ब्रह्म की आनन्द कला=ईश्वर का सुख

आनन्द पहुँचाने वाला स्वरूप । शक्तिमय=बलवान, शक्तिशाली । भीषणता= भयंकरता । मनोहरता=आकर्षित करने वाली । प्रचण्डता=तीव्रता, तेजी । आर्द्रता=दुःख, करुणा । विरुद्धों=विरोध करने वाले । पंडित वेषधारी= झूठे पण्डितों का वेष धारण किये हुए । प्रगल्भ वक्तृता=भाषण देने में कुशल । मृदुता=मिठास । उद्घाटना महोत्सव=आरंभ करने का अवसर । दिव्य=सुन्दर । आवरण=पर्दा । ध्वंस=नाश । योग देना=साथ देना । उन्मुख =झुके हुए । ज्वलन्त=प्रखर । रोष=क्रोध । पराभव=पराजय, हार ।

अभ्युदय=उत्थान । सिद्धि=प्राप्ति । उग्र=तेज, तीव्र । विफल=असफल । निराला अनोखा, विचित्र । पार्यवसान=अन्त । वध=मारना, निधन । अमोघ=अटल, न चूकने वाली ।

पाखण्ड=ढोंग । सार्वभौम=समस्त संसार । विप्लव=विद्रोह । द्वादश सर्गबध=बारह सर्गों में विभक्त । रत=लगे हुए । संचय=एकत्रित करना । दुर्दान्त=भयानक, विषम । पराभव=पराजय, हार । मनोरम=सुन्दर । विषादमयी=शोकपूर्ण । आवृत्ति=घेरे में बन्द, ढका हुआ ।

अस्वाभाविकता=असाधारण, बनावटी । जिसमें प्रकृत रूप का अभाव हो । सत्पात्र=सच्चा व्यक्ति । ध्वस्त=नष्ट । दुर्दमनीय=भयंकर । व्यर्थ= निरर्थक, फिजूल । हैसियत=नाते से । प्रवृत्ति=कार्य में संलग्न रहना । निवृत्ति=कर्मण्यता से मुख मोड़ लेना ।

भीतरी=आन्तरिक । आदत=किसी बात का आदी हो जाना । धीरोदात्त =धैर्यवान । भेद-निरूपण=अन्तर को बताना । वासना=कामना, इच्छा । तुष्टि=सन्तोष । हेतु=कारण । उद्धार=कल्याण । उत्सर्ग=कुरबानी देना, जीवन दान कर देना । यन्त्रणा=पीड़ा, कष्ट । पराक्रमी=बलवान, साहसी ।

रूप-गुण-सम्पन्न नायक=गुणों और सुन्दता से पूर्ण मुख्यपात्र । कुरूप= असुन्दर, भद्दा । काव्यानुभूति=कविता का अनुभव । धारण=विश्वास । शौक =रुचि । बंगभाषा=बंगाली । निर्दिष्ट=दिखाना, निश्चित । मनमाना= इच्छानुसार । मर्मानुभूति=भावों का अनुभव । कुशल=योग्य, दक्ष ।

आख्यान=कहानी । नवीन उद्भावना=नया विचार, नई कल्पना । आरोप=लगाना, निहित । चिर-प्रतिष्ठित=बहुत समय से मान्य । आदर्श= नमूना । आश्रय=सहारा । स्वच्छन्दतापूर्वक=आजादी से । विकृत=बिगाड़ना । खंडित करना=तोड़ना ।

उपेक्षा=लापरवाही। भ्रातृभाव=भाइयों जैसा भाव। आचरण=सदाचार। उत्कर्ष=उच्चता। एकदेशीय=स्थानीय (Local)। असहाय=निर्बल। निरन्तर=लगातार। क्रूर=जालिम। आततायियों=दुख देने वाले। सेवा-सुश्रूषा=सेवा करना।

समीक्षा=आलोचना। उदय=आरम्भ। अस्त=अन्त। चेतना=चैतन्य। अन्तस्संज्ञा=अचेतन मन में अप्रकट। रतिभाव=प्रेम का भाव। असूया=ईर्ष्या, जलन। कोमलसत्ता=सुकुमारता। तीक्ष्ण=तीव्र, तेज। प्रतीति=जानकारी। अन्तर्दशाएँ=आंतरिक भाव। बीजभाव=मूल भाव। स्फुरण=प्रकट। अंगभाव=सहायक भाव।

स्फुरित=अदभूत, फूटे हुए। मंगलविधायिनी=कल्याण करने वाली। व्यापकता=विस्तार। रसरूप=आनन्दस्वरूप। तादात्म्य=साक्षात्कार, सामीप्य। निष्पत्ति=उत्पन्न होना। तीनों अवयव=तीनों अंग (आश्रय, आलम्बन और स्थायी भाव)। वर्त्तमान=विद्यमान। चरित्रद्रष्टा=चरित्र को (वर्णन को) देखने वाला।

प्रवर्तित=चलाई हुई। निर्विशेषता=साधारण। व्यापकता=विस्तार। अवलम्बित=आश्रित। पीड़ित=दुखी व्यक्ति। उग्र=तीक्ष्ण, तेज। स्थित=ठहरे हुए। ढब=प्रकार। प्रदर्शित=दिखाये गए। अन्तर=भेद।

छानबीन करना=खोजना। विधान=व्यवस्था, प्रबन्ध। गति=झुकाव। साध्य=कार्य। दारुण दशा=भयानक हालत। आदिकाव्य=पहली कविता। दाम्पत्य प्रेम=पति-पत्नी का प्रेम। योग=मेल। विराट=विशाल। मंगलोन्मुखी=कल्याण की ओर झुकी हुई। समन्वित=मिल जाना। लोकोत्तर=इस लोक से परे।

कलावादी=जो कला को कला के लिए मानते हैं(Art for art's sake)। तह=गहराई। अव्यक्त=अस्पष्ट। साक्षात्कार=प्रकट। उन्मुक्त=उपासक। सात्विक=सच्चे। मूलतत्त्व=मुख्य भाव। अनेकरूपता=भिन्न प्रकार। विन्यास=सजावट। स्थिर=स्थायी। गत्यात्मक=चलने वाला।

काव्यतत्त्व=कविता का मूल भाव। साम्प्रदायिक=किसी संप्रदाय विशेष से सम्बन्धित। परिमित=संकीर्णता। कष्टसहिष्णुता=कष्ट सहन करना। मृदुल=मीठी।

पूर्ण=पूरी तरह। प्रभविष्णुता=प्रभाव डालना। प्रवृत्त=लगाना।

युद्धोत्साह=युद्ध के लिए उत्साह । त्रिगुण=तीन रूप, (सतो गुण, रजो गुण और तमो गुण) । पारमार्थिक=ईश्वरीय । संधि=मेल ।

अव्यक्तावस्था=अस्पष्टरूप । समिष्टरूप=सम्मिलित रूप । आनन्दकला=सुख देने वाली कला । पद्धति=रीति । भासित=प्रतीत होना । वज्रादपि कठोर=वज्र जैसी कठोर । कुसुमादपि मृदु=फूल के समान मीठा या कोमल ।

पृष्ठ २१६. "आदि कवि वाल्मीकि···दिव्य संगीत है ।"

सर्वप्रथम कवि वाल्मीकि में भी भिन्न-भिन्न भावों का सामंजस्य बड़ी सुन्दरता से प्राप्त होता है । सर्वप्रथम उन्हीं के काव्य में हमें विरोधी भावों का (कटुता मधुरता, कोमल-कठोरता, प्रचण्डता और मृदुता) सुन्दर मेल दृष्टि-गोचर होता है ।

पृष्ठ २१८. "कवि कर्म सौन्दर्य······उसका उपदेश नहीं देना ।"

कवि अपने काव्य के माध्यम से लोक में कर्मण्यता का भाव उत्पन्न करता है । वह मनुष्य के कर्मों के सर्वश्रेष्ठ मार्ग पर चलने का प्रयास करता है । वह कोरा उपदेश देना ही अपना कर्त्तव्य नहीं समझता । अपितु अपने कवि कर्म के द्वारा लोगों को प्रवृत्ति के मार्ग पर चलाता है ।

पृष्ठ २२१. "काव्यकला की पूरी रमणीयता ····विकास में दिखाई पड़ती है ।"

वही काव्य-कला उत्कृष्ट तथा पूर्ण सुन्दर समझी जाती है जिसमें कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण दोनों मन के भावों का सुन्दर समन्वय हो । इन दोनों पक्षों के समन्वय से काव्य में कल्याण और सौन्दर्य का रूप विकसित होता है ।

साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद

शब्दार्थ :- रति=प्रेम । करुणा=दया । क्रोध=गुस्सा, रोष । भावात्मक सत्ता=आनंदपूर्ण वृत्ति, रसात्मक वृत्ति । सहस्त्रों=हजारों । सामान्यतः=साधारणतः । रसोद्बोधक=रस उत्पन्न करना । साधारणीकरण=किसी भाव विशेष को सामान्य रूप देने की क्रिया । घोषित=बताना ।

वर्णित=जिसका वृत्तांत किया गया हो । दुःशील=बुरा आचरण । भाव-प्रदर्शक=भाव या विचार को दिखाने वाला । मनुष्य-मात्र=सभी के

लिए। अशक्त = निर्बल।

कला-समीक्षा = कला की आलोचना। स्थिर = स्थायी। प्रतिपादित = बनाना। तर्क = बुद्धि, मस्तिष्क। निश्चयात्मिका = निश्चय दिलाने वाली। व्यवसाय कार्य, धंधा।

सामान्य-तथ्य-कथन = सामान्य का विवेचन। बिम्ब-ग्रहण = रूप ग्रहण करना। बावला = पागल। उग्रवचन = तेजी से बोलना। उन्मत्त = मदमस्त।

अभिप्राय = मतलब, आशय। रसानुभूति = आनन्द का अनुभव करना। अर्थ-संकेत = अर्थ की ओर इशारा करना। व्यञ्जन = प्रकट। फुटकल = बिखरी हुई। प्रेयसी = प्रेमिका।

तादात्म्य = साक्षात्कार, समीपता। कुतूहल = प्रेम। अनुराग = प्रेम। प्रकृति = स्वभाव। निरपराध = निर्दोष। दीन = दुःखी। प्रबल = शक्तिशाली। अश्रद्धा = घृणा। सहानुभूति = हमदर्दी।

सन्निविष्ट = प्रयोग किया हुआ, प्रयुक्त। अव्यक्त = अस्पष्ट। अनुरूप = अनुसार। संगठित = बनाना।

अपनाना = ग्रहण करना। विरक्ति = विराग, लगाव न होना। अपरितुष्ट = असंतुष्ट, बेमेल। तुष्टि = शांति। अनुपयुक्त = अनुचित। असामान्य = असाधारण

शील-विशेष = विशेष प्रकार का आचरण। परिज्ञान = ज्ञान, जानकारी। तादात्म्य-दशा = सामीप्य की अवस्था। सत्ता = स्थिति। विसर्जन = जाना, समाप्त होता। रसमग्न = आनन्द में मग्न। उदात्त = उत्कृष्ट, उच्च। दत्त चित्त = एकाग्रचित।

श्रव्यकाव्य = उपन्यास का काव्य। दृश्य-काव्य = नाटक। लक्ष्य = उद्देश्य। शील वैचित्र्य = आचरण की विचित्रता। अन्तःप्रकृति-वैचित्र्य = मनोभावों की अद्भुतता। दर्शक = देखने वाले। आश्चर्यपूर्ण प्रसादन = आश्चर्यजनक प्रफुल्लता। आश्चर्यपूर्ण अवसादन = चमत्कारपूर्ण दुःख।

चरम उत्कर्ष = उच्चता की अंतिम सीमा। आलोक = चमक, प्रकाश। पादुका = खड़ाऊँ। अनुरोध = कहना। आश्चर्य-मिश्रित = आश्चर्य से मिली हुई। लीन = मग्न। विचित्र = अनोखा।

अवसादन = दुःख। पतन = गिरावट। तामसी घोरता = क्रोध से युक्त नीचता। आह्लाद = आनन्द, सुख। विलक्षणता = अदभुतता। धीरता =

अधमता, गिरावट। स्तम्भित=जड़।। क्षुब्ध=दुःखी। कुपित=क्रोधित। दुःशीलता=बुरा आचरण।

सात्त्विकी=सत्त्व गुण प्रधान। तामसी=तमोगुण वाली। विभिन्नता=भिन्न-भिन्न, भिन्नता। वर्ग-विशेष=किसी एक विशेष वर्ग की। अद्वितीय=अनोखी। निरपेक्ष दृष्टि=दूर की सोचना। नूतन=नई, नवीन। निर्माण वाली=बनाने वाली।

उच्चतम=सबसे ऊँची। क्षोभ=दुःख। घोर=अत्यन्त। विश्वासघात=विश्वास को खोना। जघन्य=घृणित। शीलच्युति=अच्छे आचरण का खोना। अर्द्धविक्षिप्त=आधा पागल। असामञ्जस्य=बेमेल का। अव्यवस्था=गड़बड़। द्योतक=बताने वाला। भर्त्सना=बुरा भला कहना, कोसना। मनबहलाव=मन प्रसन्न करना। कृत्रिम=झूठी, बनावटी। सृष्टिकारिणी=उत्पन्न करने वाली।

नूतन सृष्टिनिर्माण वाली कल्पना=ऐसी कल्पना या विचार जिससे नवीनता प्रकट हो। अर्थवाद=विशेषण, प्रयोजन। गृहीत=माना गया। सूत्र-सा=सिद्धांत। व्यंजना=प्रकट। अभिनय=प्रदर्शित, करना, दिखाना (Acting)।

पुनरुत्थानकाल=दुबारा उठना, जागृति का समय। अखण्ड=अटूट, जो बांटा न जा सके। अनन्त=जिसका अन्त न हो, असीमित। भेदातीत=जिसमें अंतर न आ सके। सर्वत्र=हर स्थान पर। पूर्ण सभ्य काल=उच्च प्रकार के विकास का समय। प्राचीनों=पुराने लोग। आंख मूँदकर=आंख बंद करके। चाह=इच्छा।

सारसत्ता=मूल भाव। चर जाना=निगल जाना, खा जाना। संगत=उचित, ठीक। अभिन्नता=अभेद। आकृति=आकार। अन्तर्भूमियां=मनोभाव। नर-समष्टि=मनुष्य पात्र। रागात्मिका प्रकृति=भावात्मक स्वभाव। कृत्रिम=बनावटी। न्यूनाधिक=थोड़ा बहुत। वासनात्मक=इच्छात्मक।

स्वच्छन्दता के आंदोलन=स्वतन्त्रता का आग्रह (Romantic movement)। उत्तर काल=अंतिम काल। विकृत=विगड़ा हुआ। स्वीकार=मानना। ग्रहण=धारण। व्यक्तिगत विशेषता=किसी एक व्यक्ति की निजी विशेषता। वैचित्र्य=विचित्रता। कुतूहल=उत्सुकता, आश्चर्य।

निर्मित=बना हुआ।

विरल=कतिपय, कुछ। विधान=व्यवस्था। झंकार=ध्वनि। सन्तुष्ट=शान्त। प्रदर्शन=दिखाना। विलक्षण=अजीब, अद्‌भुत।

समीक्षा-क्षेत्र=आलोचना का क्षेत्र। मुनादी=ढिंढोरा पीटना। जमी=टिक गई। बोध-पक्ष=ज्ञान का पक्ष। अन्त:साक्षात्कार=बोध, ज्ञान। प्रतिष्ठा=स्थापना। भिड़ गया=डट गया। रमणीयता=सुन्दरता। तटस्थ=अलग, दूरी पर। तमाशबीन=तमाश देखने वाला।

आभास=भासना, पता चलना। एकदेशीय=एक पक्ष का, स्थानीय। निरूपण=दिखाना, विवेचन करना। प्रत्यक्ष=प्रकट। विचार-प्रसूत=विचारों से उत्पन्न। सर्वथा=बिलकुल। निरपेक्ष=अलग। स्वत:पूर्ण=अपने आप में पूरा। विधायक=बनाने वाला। अवयव अंग। अनभिव्यक्ति=अस्पष्टता।

दीवार=रुकावट। विचार-सिद्धि=विचार से प्राप्त। कृति=रचना। परीक्षा=निरीक्षण, इम्तहान। पद्धति=रीति। अनुकरण=नकल। अव्यवस्था=गड़बड़। उमंग=इच्छा। आकुलता=व्याकुलता, घबराहट। मौलिकता=निजीपन। उच्छृंखलता=स्वछन्दता, उल्लंघन। वक्रता=घुमाकर बात कहना। असम्बद्धता=बेमेल। अनर्गलता=जिसमें नियन्त्रण न हो। प्रकृत मार्ग=स्वाभाविक रास्ता। हवाई ढंग=जिसका कोई आधार न हो।

पृष्ठ २०९. "साधारणीकरण का अभिप्राय ··· आलम्बन हो जाती है।"

साधारणीकरण का मतलब यह होता कि कोई विशेष वस्तु या विशेष व्यक्ति (दुष्यन्त-शकुन्तला) जो कि काव्य में आश्रय का आलम्बन बनकर आते हैं वह अन्य मनुष्यों के मन का भी आलम्बन बन जाये। इसी स्थिति को साधारणीकरण कहते हैं।

पृष्ठ २३९. "इसीसे भारतीय दृष्टि ··· सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की।"

कल्पना के साथ-साथ मनुष्य के मन में रति, करुणा, उत्साह आदि अनेक प्रकार के मनोविकारों के होने के कारण भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने काव्य में भाव पक्ष को प्रधानता दी है। भाव पक्ष की प्रधानता के हेतु ही यहाँ रस निष्पत्ति के सिद्धान्त को भी स्थापित किया गया।

रसात्मक बोध के विविध रूप

शब्दार्थ—संसार-सागर=जगत रूपी समुद्र। रूप-तरंगों=विविध प्रकार के भाव। निर्माण=बनाना। रूप-गति=स्वरूपों का अन्तर। विधान=योजना। क्रूरता=अत्याचार। निष्पन्न=उत्पन्न। बाहर=स्पष्ट, गोचर। रूपात्मक जगत=दृश्य जगत। अन्तर्मुखी=बुद्धिशीला। भीषण=भयंकर।

प्रत्यक्ष रूप-विधान—प्रतिष्ठा=स्थापना। उपादान=आधार, आलम्बन। रसानुभूति=आनन्द का अनुभव। उपयुक्त=उचित। लावण्य सौंदर्य। वनस्थली–वन। सुषमा=शोभा। शैलतटी=पर्वतीय प्रदेश। रमणीयता=सुन्दरता। प्रफुल्लता=खुशी। मुग्ध=मगन, लट्टू। कष्ट व्यंजक=कष्ट के बनाने वाले। करुणार्द्र=दयालु। निष्ठुर=कठोर। क्षमता=योग्यता। दत्तचित्त=लीन। निष्चेष्टा=किसी चेष्टा या इच्छा का न होना।

चाक्षुष-ज्ञान=आँखों देखा। घ्राण शक्ति=सूँघने की ताकत। खलियान=गाँव में कई प्रकार की वस्तुओं के ढेर। तुरन्त=उसी समय। महक=गंध, खुशबू। मिश्रित=मिली हुई। चटकन=खिलना।

काव्य-समीक्षकों=कविता की आलोचना करने वाले। साहित्य-मीमांसक=साहित्य की आलोचना करने वाले। शब्द-संकेत=शब्दों द्वारा इंगित। अन्तस=हृदय, मन। मानस साक्षात्कार=मन में अनुभव करना। निरूपण=बताना। संबद्ध=संबन्धित।

रूपवती=सुन्दर। स्मित आनन=हँसमुख। चंचल भ्रूविलास=चपलतापूर्वक भौंहों का चलना। मुग्ध=लीन। सरल सुषमा=प्राकृतिक सुन्दरता। रमणी=सुन्दर स्त्री। पूर्वाचल=पर्वतीय प्रदेश। लुब्ध=लोभी। सरस=रोचक। रसमग्न=आनन्द में मग्न। कलागत=सुन्दरता के भीतर। कोरे शब्द-व्यवसायी=केवल शब्दों का चमत्कार दिखाने वाले।

हद=सीमा। धारणा=विश्वास। व्यंजित=प्रकट की हुई। सामंजस्य=मेल। लफ्फाजी=लफ्जों (शब्दों) का चमत्कार। अनजान=अज्ञानी। कलावंत=गुणवान।

वर्णित=बताये गये। आलम्बन=आधार। व्यंजना=प्रकट। रसदशा=आनन्दवस्था। पृथक्=अलग। सत्ता=अस्तित्व। उपाधि=पदवी। ग्रस्त=फंसा हुआ। निर्विशेष=साधारण, सामान्य। मुक्त=स्वतन्त्र। विसर्जन=लोप। निःसंगता=पृथकता, निस्पृहता। लोकोत्तरत्व=इस लोक

से परे होना। ब्रह्मानन्द-सहोदर=ब्रह्मानन्द के समान । विभावन-व्यापार =भावों को जागृत करने में सहायता देने वाले कर्म। अलौकिकत्व=विचित्रता। स्वर्गीय-विभूति =ऐसी आत्मा जो स्वर्ग से संबंधित हो। स्तुतिपरक=प्रशंसा करने वाले। अर्थशून्य वागाडम्बर=निरर्थक शब्दजाल।

परिहार=दूर होना, छुटकारा होना। अंतर्गत=भीतरी। बाधा=रुकावट, विघ्न। व्यक्त=प्रकट। योग=साथ। पूर्णतया=पूरी तरह। सामान्यतः= साधारण रूप से। कुरूप=भद्दा। दुःशील=बुरे चरित्र वाला। भाव-व्यंजक =भाव को प्रकट करने वाला। प्रतिष्ठापक=स्थापना करने वाला। अशक्त =निर्बल। आरोप=संस्थापना। आक्षेप=आरोप करना, दोष लगाना।

प्रेमानुभूति=प्रेम का अनुभव। रसलोक=आनन्द का संसार। तन-वदन =शरीर। सुध=सुधि, होश। फूला-फूला=प्रसन्न। खिन्न=दुखी। हर्ष= प्रसन्नता। विषाद=दुःख। स्मृति=स्मरण। अभिलाषा=इच्छा। औत्सुक्य =उत्सुकता। घनिष्ठ=गहरा, निकट का। अल्प=कम। रूपावलोकन= सुन्दरता को देखना। तुष्टि=समर्थन। अपेक्षित=आवश्यक। अवयव= अंग। विलक्षण आल्हाद=अनोखी प्रसन्नता।

निज=अपने से सम्बन्धित। विकट=भयानक, विषम, कठिन। लोक-कल्याणकारी=लोक का मंगल करने वाली। संकुचित मण्डल=सीमित क्षेत्र। बद्ध=बंधी। व्यापक=विस्तृत। उमग=इच्छा। दुष्कर=मुश्किल, कठिन।

साहित्य-प्रेमियों=साहित्य में रुचि रखने वाले। अड़चन=बाधा, रुकावट। दुःखात्मक=दुख देने वाली। रसास्वादन=रस का आनन्द। गड़बड़=अव्यवस्था। स्थूल=मोटे। ग्रहण=मानना, लेना। उपयुक्त= उचित, ठीक। शक्त=स्वतन्त्र।

लोकपीड़क=लोगों को दुःख देने वाला। अवकाश=छुट्टी। रसभूमि= आनन्द की भूमि। दुर्गन्धयुक्त=बुरी गंध वाली। संवेदना=सहृदयता। क्षोभ=दुःख। घृणित=नफरत वाला। विघात=नष्ट करना। जुगुप्सा= घृणा, नफरत।

शोक=दुःख। इष्ट-हानि=इच्छित वस्तु का प्राप्त न होना। अनिष्ट-प्राप्ति=ऐसा लाभ जिसकी इच्छा न हो। वेदना=दुःख, पीड़ा। दुर्गति=बुरी हालत। अन्तर=भेद। लक्ष्य करके=उद्देश्य बनाकर। शोकपूर्ण=दुःख-भरी। वाग्धारा=कहना, वर्णन।

प्रयत्न=स्पष्ट । मधुर भावना=सुखदायक भाव । स्वच्छन्द, स्वतंत्र । रमणीयता=सुन्दरता । रमा रहना=लीन रहना, लगा रहना । शुष्कता= नीरसता । विरसता=कड़वापन । अभिनेता=अभिनय करते वाला पात्र । हैसियत=रूप कोटि । संकुचित=संकीर्ण । निम्नकोटि=नीचे दर्जे का । सिद्धि=प्राप्ति । वस्तु-काव्य=प्रत्यक्ष जगत् । अनुशीलन=विवेचन ।

उपर्युक्त=ऊपर दिया हुआ । सिद्ध=स्पष्ट । प्रत्यक्ष=साफ, प्रकट (clear) । सर्वथा=बिलकुल । पृथक्=अलग । अर्न्तवृत्ति=मनोभाव । उदात्त=उत्कृष्ट, उच्च । अवदात=बुरा । सूचित करना=बताना । वंशानुक्रम=वंश के अनुसार । दीर्घ=लम्बी । निहित=विद्यमान, आरोपित । संचय=एकत्रित ।

स्मृति रूप विधान :—प्रत्यक्ष=स्पष्ट । परोक्ष=अप्रत्यक्ष, छिपी हुई, अस्पष्ट । स्मरण=याद, ध्यान । रसात्मक=सुखदायक । स्वदेश=अपना । अतीत=भूतकाल के । रूखे विधान=साधारण सिद्धान्त । नीतिकुशल= राजनीति में दक्ष । बीती ताहि बिसारि दे=जो कुछ हो चुका है उसे भुला दो । गड़े मुर्दे को उखाड़ना=बीती को फिर-फिर याद करना । मधु-स्रोत=मीठा जल, मृदुता । अवगाहन=जाना, डूबना, गोता लगाना ।

विशुद्ध स्मृति :—उलझन=अड़चन । मुक्त भाव-भूमि=भावों में स्वतन्त्रता । बाल्यकाल=बचपन । यौवनकाल=जवानी । प्रवास=बाहर रहना । रसकोटि=रस की श्रेणी, आनन्द की श्रेणी । लगाव=सम्बन्ध । सम्बद्ध=मिला हुआ, सम्बन्धित ।

साहचर्य्य=साथ रहना । सबल=बलवान, शक्तिशाली । आकर्षित= मुग्ध होना । व्यवधान=वक्फा, बाधा । मधु=शहद, आनन्द । समेटकर= एकत्रित करके । ज्ञान-प्रसार=ज्ञान का फैलाव । एकीकरण=एकता । समन्विति=मिलाप । प्रक्रिया=क्रिया । ज्ञान ब्रह्म है=ब्रह्म तटस्थ रहता है । यह एक ऐसी स्थिति का का नाम है जो ज्ञानमयी है । हृदय ईश्वर है=ईश्वर है क्योंकि सभी लीलाओं का सृजन करता है इसलिये वह हृदय के निकट रहता है । अन्तस्सत्ता=आन्तरिक शक्ति ।

अतीत जीवन=जो जीवन व्यतीत हो चुका है । विवर्ण आकृति=पीला-पन, मुख का पीला पड़ना । चेष्टा=इच्छा । लगाव=सम्बन्ध । रस-सिक्त =आनन्ददायक । द्रष्टा=देखने वाला ।

प्रत्यभिज्ञान:—प्रत्यभिज्ञान तत् का और इदम् का अवगाहन कराने वाला ज्ञान। प्रत्यक्ष=सामने, प्रकट। उपस्थित=विद्यमान। अमुक=फलाँ। अंग=अंश। व्यंजना=प्रकट।

रस-संचार=रस देने वाली। गहरी शक्ति=बड़ी शक्तिशाली। वृत्ति=मन। मग्न=लीन। दृश्य=नजारा। वियोगिनी=जो विरह में हैं। यमुना तट=यमुना का किनारा। विचरते=रहते।

रसात्मक=आनन्ददायक। विधान=व्यवस्था। गूढ़ वृत्तियां=मार्मिक भाव। पारखी=पहचान वाले। भावमूर्ति=भावों की प्रत्यक्ष मूर्ति स्वरूप। वध=मारना। दण्डकारण्य=दण्डक नाम का वन।

दशा=हालत, अवस्था, परिस्थिति। विपरीत=विरोध, विरुद्धता। उदय=उत्पत्ति। करुणावृत्ति=दयाभाव। संप्रालन=चलन। वक्ता=भाषण देने वाले। उपयोग करना=लाभ उठाना। खंडहर=टूटे-फूटे मकान। सुख-समृद्धि=सुख और वैभव। अनिर्वचनीय=जिसका वर्णन न किया जा सके।

स्मृत्याभास कल्पना:—स्मृति=याद। प्रवृत्त=लगी हुई। अनुमान=अंदाज। पूर्णतया=पूरी तरह। निश्चित=निर्धारित। बोध=जानकारी। परिमित=सीमित। प्रयोजन=सम्बन्ध, वास्ता। सजीवता=जीवन। चिह्न=निशान। आप्त शब्द=ऐतिहासिक

स्मृत्याभास कल्पना=थोड़ा स्मरण, अधिक कल्पना का मिश्रण। अतीत जीवन=बीता हुआ जीवन। मधुर स्मृति=सुखद याद। समष्टि-रूप=सम्मिलित रूप। अखंड-परम्परा=अटूट धारा। तादात्म्य=साक्षात्कार, घटित होना। विराजते=बैठते। पराक्रम=बल।

ब्योरे=विवरण। प्रचुर=बहुत। तोरण=बड़े द्वार। उन्नत प्रासाद=ऊंचे-ऊंचे महल। उत्तरीय=साफा। उष्णीषधारी=चोगा पहने हुए। अलक्त रंजित=महावर लगे हुए। नूपुरों=घुंघरू। झंकार=आवाज। कटि=कमर। केश-कलाप=बाल। पत्र-भंग मंडित गंडस्थल=मांग काढ़े हुए माथे। ध्वंसावशेष=नाश के उपरान्त बचे हुए, खंडहर।

आश्रित=आधारित। सहारे=बल पर, योग से। अपरिचित=जो परिचित न हो, जिसे हम नहीं जानते। देवालयों=मन्दिरों। रमणियों=स्त्रियों। क्रीड़ारव=खेल से शोर। योजना=व्यवस्था (Scheme)। योग-क्षेम=कुशल-मंगल।

आकर्षण=मोह । अर्थपरायण=धन के लोभी । फायदा=लाभ । रहस्य=भेद । मुक्ति लोक=स्वतन्त्र प्रदेश । विचरता है=रहता है । दर्पण=शीशा । दुर्भेद्य=जो हराया न जा सके । सुध=खबर । संघ-शक्ति=एकता का बल । अभिप्राय=आशय । विसर्जन=त्याग, भुलाना ।

कुशल=उचित, ठीक । दिल सही सलामत=जिसमें सहृदयता का भाव है । सन्देह=शंका । सुख-दु:ख से परे=रस की स्थिति । लीन=मग्न । मूर्त्त भावना=प्रत्यक्ष रूप । अन्त:प्रकृति=हृदय । अनुप्राणित=परिपुष्ट । शक्ति=बल । वृत्त=कहानी, घटना ।

नित्य=सदैव रहने वाली । प्रकृति=स्वाभविका राग द्वेष=प्रेम-बैर । राज-प्रासाद=राजा के महल । प्रताप=तेज । आमोद-प्रमोद=मनोरंजन । स्मारक=चिह्न । अवसाद=दु:ख । विषाद=दु:ख, पीड़ा । नराश्य=निराशा । घोर पतन=अवनति । मानुषी=मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाली । प्रदान करना=देना ।

अन्तर्गत=भीतर । सत्त—स्थिति । सर्वथा- बिलकुल । लोप—नाश, समाप्ति । असह्य=न सहन करने वाली । आकांक्षा=इच्छा । नित्यत्व=अमरत्व । मनस्वी=बुद्धिमान । विस्मृति=भुलाना । थामे रहना=बनाये रखना ।

धवस्त=नष्ट । वैषम्य=विरोध । उत्थान=उन्नति । पतन=अवनति । कुतूहलपूर्ण=आश्चर्यजनक । असामान्य=असाधारण, विशेष । वेदना=दु:ख, कष्ट ।

रंक=गरीब, निर्धन । शब्दस्रोत बहाना=कविता करना । पुनीत=पवित्र । अवगाहन=जाना, डूबना । मैल=विरोध, पाप । विषमता=विरोध । यौवन-मद=जवानी की मस्ती । प्रसूत=बहुत । चहल-पहल=रौनक । प्रतापी=तेजस्वी, शक्तिशाली । अवनति=पतन ह्रास=पतन । असामर्थ्य=निर्बलता । विवशता=मजबूरी । उदासीनता=मुख मोड़ना ।

दु:खमय=दु:ख देने वाला । विकसित=बड़ा । सुखेच्छा=सुख की इच्छा । प्रबल=बलवान । काया-पलट—बदल देना । प्रतीक=निशान । चतुर्वर्ग=चार वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) । साध्य=इच्छित । प्राप्य लिप्त=लगा रहना । रंग बरसाना=आनन्द लेना ।

कल्पना रूप-विधान=दृश्य जगत । नूतन सृष्टि=नई उत्पत्ति ।

कृति=रचना । तथ्य=सचाई । ब्योरे=विवरण । मूर्त्त-भावनाएं=प्रत्यक्ष भाव । उद्दीपन=उद्दीप्त करने वाले, उत्साहित करने वाले ।

चेष्टाओं=इच्छाओं । द्योतक=बनाने वाला । परिमित=सीमित । रूढ़=परम्परा से चली आती हुई । नयेपन=नवीनता । गुंजायश=अवकाश, स्थान । अनेकरूपता=भिन्नता । सीमा=हद ।

प्रसार=फैलाव । अतिक्रमण=उल्लंघन । सम्यक्=उचित । पर्याप्त=काफी । अबबध=स्वच्छन्द, जो बांधा न जा सके । प्रतिज्ञा करना=व्रत लेना, इरादा करना ।

दीप्ति=चमक । कान्ति=तेज । प्रतिभा=बुद्धि । विधायिनी=चलाने वाली । अनूठी=अद्वितीय । सृष्टि=रचना । सामग्री=सामान । पराकाष्ठा=अंतिम सीमा । अपेक्षित=आवश्यक । उत्कर्ष=उत्कृष्ट । खासकर=विशेष रूप से । अन्तस्संज्ञा=मन के आन्तरिक भाग । अतृप्त=अशान्त, अपूर्ण । वासनाओं=इच्छाओं । सदवृत्ति=अच्छा आचरण । उग्रता=तेजी । प्रचण्डता=तीव्रता । उथल-पुथल=गड़बड़ ।

अप्रस्तुत=जो विद्यमान नहीं, उपमान । साम्य-भावना=समानता दिखाना । वृद्धि=बढ़ाना, उन्नति करना । आकृति=आकार । निष्फल=असफल । बाध=बाधा डालने वाली । प्रभविष्णुता=अभिव्यंजना का सामर्थ्य, प्रभाव डालना ।

केवल शास्त्र स्थिर सम्पादक=शास्त्र के नियमों के पालन मात्र से । सिद्धि=प्राप्ति । कटि=कमर । सूक्ष्मता=बारीकी, पतला होना । व्यक्त=प्रकट । सिंहनी=शेरनी । सन्तोष=शान्ति ।

वक्रता=टेढ़ापन । धीमी=मन्द । शिथिल=ढीलीं । बानि=स्वभाव, आदत (Habit) । खुले भाग्य वाली=सौभाग्य वाली, अच्छे भाग्य वाली । व्याप्त=फैली हुई । विपर्य्य=उलटना, बदलना । उघड़ना=खुलना, साफ-साफ होना, (आकाश) । तिरोहित होना=अदृश्य होना, गायब होना । लक्ष्यार्थ=लक्षण शक्ति द्वारा लिया गया अर्थ । प्रपंच=दृश्य । अमिलताई=न मिलना । घाव=चोट । आत्मविस्तृत=अपने आपको भुला देना । आकर्षक=मोहक ।

साम्यभावना=समान भाव । उपलक्षण=प्रतीक । ग्रहण=धारण करना, लेना । चुनाव=चयन, चुनना । मूर्तिमत्ता=स्वरूप । आतिशय्य=अधिकता ।

विषाद=दुःख । मुकुल=फूल । मधुप=भौंरे । मधुमास=वसन्त ऋतु । शुभ्र=सफेद । व्यवसाय=कार्य, धन्धा ।

श्रोता=पाठक, सुनने वाला । अनिवार्य=आवश्यक । उक्ति=कथन । बोधव्य=जिसका बोध कराया जाए । मूर्त्त भावना=प्रत्यक्ष जगत, दृश्य जगत, साकार स्वरूप । तन्मयता=मग्न होना ।

पृष्ठ २५२. "शोक अपनी निज······दुर्गति या पीड़ा पर होती है ।"

मनुष्य के मन में शोक का संचार उस समय होता हैं जब उसे यह अनुभव हो कि उसकी इच्छित वस्तु का नाश हो गया, वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त करुणा का भाव तक उत्पन्न होता है जब वह किसी अन्य व्यक्ति की बुरी अवस्था पर दृष्टि डालता हैं ।

पृष्ठ २५३ "शब्द काव्य की सिद्धि परमावश्यक है ।"

कविता को सफल बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि प्रत्यक्ष जगत का विवेचन भी रसात्मकता के साथ किया जाये । इसके बिना काव्य की सफलता नहीं हो सकती ।

पृष्ठ २५५. "ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय है ।"

ब्रह्म संसार में लिप्त नहीं होता । वह सदैव तटस्थ रहता है । यह मन की एक स्थिति विशेष है जिसे ज्ञानमयी कहते हैं । इसी आत्मा का दूसरा रूप हैं ईश्वर का जो कि रागात्मक है । यही ईश्वर सभी लीलाओं का सृजन करता है ।

पृष्ठ २५९-६०. "वर्तमान हमें अंधा······आंखें खोलता रहता है ।"

वर्तमान में रह कर हम किसी वस्तु की चिन्ता नहीं करते । हमें अपने भविष्य का कुछ ज्ञान नहीं रहता और जो कुछ हमारे मन में आता है वह अन्धाधुन्ध होकर करते जाते हैं । परन्तु भूतकाल पर जब हमारी दृष्टि जाती है और हम अपनी दुर्दशा या सुखदायक जीवन पर दृष्टि डालते हैं तो हमारे सामने हमारा वास्तविक स्वरूप सम्मुख आता है । इसलिये अतीत के स्मरण से हमारी आंखें खुलती हैं और हम सत्य की परख कर सकते हैं ।

पृष्ठ २६२. "ईंट पत्थर की भाषा में एक पुरानी कहानी रहती है ।"

स्मारक या खण्डहर मूक वाणी से अतीत के गौरव की कहानी को बताते रहते हैं । जैसे लाल किले की दीवारें उस समय की गौरव गाथा को अपनी मूक वाणी से व्यक्त कर रही हैं ।